

भारतीय साहित्य के निर्माता

गंगेश उपाध्याय

उदयनाथ 'झा अशोक'



गंगेश उपाध्याय

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य है, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं और इसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का यह संभवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख है।

नागार्जुन कोण्डा, दूसरी सदी ई.
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

गंगेश उपाध्याय

उदयनाथ झा 'अशोक'



साहित्य अकादेमी

Gangesh Upadhyay : A monograph in Hindi on the ancient Sanskrit philosopher and Scholor by Udayanath Jha 'Ashok'. Sahitya Akademi, New Delhi (2016), ₹ 50.

प्रथम संस्करण : 2016

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय
रवींद्र भवन, 35 फ़ीरोज़शाह मार्ग, नई दिल्ली-110 001
विक्रय विभाग, स्वाति, मंदिर मार्ग, नई दिल्ली-110 001
वेबसाइट: www.sahitya-akademi.gov.in
ई-मेल: ds.sales@sahitya-akademi.gov.in

क्षेत्रीय कार्यालय
172, मुंबई मराठी ग्रंथ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुंबई-400 014
4, देवेंद्र लाल ख़ान मार्ग, कोलकाता-700025
सेंट्रल कॉलेज परिसर, डॉ. बी. आर. आंबेडकर वीथी, बेंगलूरु-560 001

चेन्नई कार्यालय
मेन बिल्डिंग, गुना बिल्डिंग्स (द्वितीय तल), 443(304)
अन्नासालइ, तेनामपेट, चेन्नई 600 018

ISBN 978-81-260-4788-8

मूल्य : पचास रुपए

मुद्रक : विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिंटर्स, ट्रोनिका सिटी, लोनी, गाजियाबाद-201102

पुरोवाक्

साहित्य अकादेमी द्वारा स्वीकृत सभी भाषाओं के शीर्षस्थ नए-पुराने साहित्यकारों से, उनके अवदानों से संपूर्ण देश और राष्ट्र के लोग, परस्पर एक-दूसरे प्रांत के लोग परिचित हो सकें, उनकी चिंतन-धारा से अवगत हो सकें—इस उद्देश्य से तथा समष्टि-भावना को ध्यान में रखकर अकादेमी ने इस 'भारतीय साहित्य निर्माता' शृंखला की शुरुआत की थी। इस कड़ी में गंगेश उपाध्याय जैसे महान् दार्शनिक को जोड़ने के लिए, उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर केंद्रित एक परिचयात्मक विनिबंध लिखने हेतु अकादेमी से जब मुझे प्रस्ताव मिला तो मन में आनंद-भरी आशंकाएँ हिलोरें लेने लगीं। क्या मुझ जैसे व्यक्ति से यह कार्य हो पाएगा? पहाड़ के सामने ऊँट चल पाएगा? फिर भी 'हिम्मत ही मत' है को मानकर मैं इसमें प्रवृत्त हुआ।

उदयनाचार्य के परवर्ती युग में गंगेशोपाध्याय एक सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक हुए। प्राचीन भारतीय भाषा साहित्य के निर्माताओं के बीच उनका अविस्मरणीय और अनुपम स्थान है। उनकी विश्व-विश्रुत ख्याति एक मात्र कृति *तत्त्वचिंतामणि* से ही हुई है। शास्त्र चिंतन और गुणोत्कर्ष में उनकी कोई तुलना नहीं। जो प्रतिष्ठा और यश वरदावीणाविहारिणी के वरदपुत्रों को अनेक कृतियों से प्राप्त होते हैं, वही यश और प्रतिष्ठा हमारे गंगेश को एक मात्र कालजयी कृति से सुलभ हुई। मध्यकालीन मिथिला और संपूर्ण भारत के संस्कृताकाश में अत्यंत जाज्वल्यमान नक्षत्र गंगेश का परिचय इतने उत्कर्ष और ख्याति से मंडित होने पर भी धूमाच्छन्न रहा है। विभिन्न लेखकों के ग्रंथों, भूमिकाओं, निबंधों व पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से इस विनिबंध में गंगेश के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को समग्र रूप में विहंगम दृष्टि से देखते हुए इसी धूम को हटाने का हमने एक विनम्र प्रयास किया है।

गंगेश के समान अति विशिष्ट और प्राचीन विद्वान् पर कुछ भी लिखना मेरे लिए नितरां ही दुरूहभरा कार्य था; तथापि जो कुछ भी हो सका, वह भी अकादेमी द्वारा

निर्धारित अवधि के अभ्यंतर उसमें हमारे गुरुजनों का ही आशीर्वाद और उपयोग में लाए गए ग्रंथों-निबंधों-भूमिकाओं का ही योगदान है; अन्यथा मेरे लिए इस कार्य को संपादित कर पाना संभव न था। अत: मैं उन सभी लेखकों व विद्वानों का आभारी हूँ।

अकादेमी की 'संस्कृत भाषा परामर्श समिति' के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ, जिसने विनिबंध लिखने का दायित्व देकर इस महान् दार्शनिक और विश्व-विभूति पर अध्ययन, मनन और लेखन का सु-अवसर प्रदान किया है।

इस अल्पकाय विनिबंध द्वारा यदि सामान्य पाठकों व सुधी समाज को गंगेशोपाध्याय से परिचय कराने में कुछ भी सफल हुआ, प्रबुद्ध पाठकों को अंशमात्र भी आत्मतुष्टि दिला पाया तो सुतरां अपने परिश्रम को हम सार्थक समझेंगे। आशा है इसके प्रकाशन से गंगेश की कृतित्त्व-समीक्षा व उनके जीवन-परिचय पर चिंतन-मनन करने की ओर विद्वद्वृंद आकर्षित होगा।

गंगेश के समान महान् व्यक्ति पर इतनी छोटी पुस्तक लिखने के लिए क्षमा याचना के साथ अपने कथ्य को विराम देता हूँ।

—उदयनाथ झा 'अशोक'

अनुक्रम

1

न्यायदर्शन का परिचय

दर्शनशास्त्र का सीधा संबंध जीवन से है। जीवन और दर्शन एक ही उद्देश्य के दो परिणाम हैं। दोनों का चरम लक्ष्य एक ही है—उस परम श्रेय की खोज। उसी का सैद्धांतिक रूप दर्शन है और व्यावहारिक रूप जीवन। जीवन की सर्वांगीणता को निर्मित करनेवाले जो अति सूक्ष्म सूत्र या तंतु हैं, उन्हीं की व्याख्या करना दर्शन का उद्देश्य है। विज्ञानों की पारस्परिक विरुद्धगामी विचारधाराओं में भी दर्शन सामंजस्य स्थापित करता है, जिस दृष्टि से यह भी एक विज्ञान है। इसके अंतर्गत प्रमाणशास्त्र (एपिष्टेमोलॉजी), तत्त्व दर्शन (ऑटोलॉजी), व्यवहारशास्त्र (एथिक्स), मनोविज्ञान (साइकॉलॉजी), सौंदर्यशास्त्र (ईस्थेटिक्स) आदि सभी का समावेश हो जाता है।

परमाणुवादी न्यायदर्शन के अनुसार देह-परिमाण आत्मा मानने पर अदृष्टवश आत्मा के जन्मांतर-ग्रहण की अवस्था में उसमें संकोच-विकास अवश्य मानना पड़ेगा और तब आत्मा का नित्यत्व कैसे बना रह जाएगा? अतः देह, इंद्रिय तथा मन से पृथक्, ज्ञानादि गुण सम्पन्न आत्मा को विभु ही मानना चाहिए। आत्माएँ अनंत हैं। अद्भुत लोक-निर्माण तथा विलक्षण कर्मफल-व्यवस्थाएँ किसी भी प्रकार बन नहीं सकतीं, अतः ईश्वर भी मानना अनिवार्य है।

'दर्शन' शब्द के प्रयोग का आधार बौद्धग्रंथों में प्रयुक्त 'दिट्ठि' शब्द है—ऐसा समीक्षकों का मत है। वे यह भी मानते हैं कि इस शब्द का वर्तमान अर्थ में सबसे पहला प्रयोग 'वैशेषिक दर्शन' में ही हुआ है। इस 'दर्शन' शब्द की निष्पत्ति पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'दृशिर्प्रेक्षणे धातु' से ल्युट् प्रत्यय करने पर होती है। यह ल्युट् प्रत्यय भाव (शब्दधात्वर्थ), करण एवं अधिकरण कारकों के अर्थ में होता है, जिससे 'दर्शन' शब्द के तीन अर्थ बनते हैं—दृष्टि या देखना, जिसके द्वारा देखा जाए तथा जिसमें देखा जाए। भावार्थक प्रत्यय के आधार पर दृष्टि या देखना तथा करणार्थक प्रत्यय को मानने से 'जिसके द्वारा देखा जाए' यह अर्थ बनता है, जो आपाततः प्रक्रिया

या पद्धति के लिए प्रयोग में आता है। प्रत्यय को अधिकरणार्थक मानने पर, वह ग्रंथ विशेष के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। इस प्रकार व्याकरण की व्युत्पत्ति के आधार पर 'दर्शन' शब्द का अर्थ बहुत ही व्यापक है।

एक बात यहाँ और ध्यान देंने योग्य है कि 'दर्शन' 'देखना' तो है, पर वह केवल 'सामान्य देखना' नहीं है। इसी गंभीरता को व्यक्त करने के लिए पाणिनि ने धात्वर्थ में 'प्रेक्षण' शब्द डाल दिया है। तात्पर्य यह है कि चर्म-चक्षुओं द्वारा देखने के अतिरिक्त 'प्रकृष्ट ईक्षण', जिसमें अंत: चक्षुओं द्वारा देखना या मनन करके सोपपत्तिय निष्कर्ष निकालना भी दर्शन का अभिप्राय है। इस प्रकार के प्रकृष्ट ईक्षण के साधन और फल दोनों का नाम दर्शन है। अधिकरण में ल्युट् का विधान होने से, जहाँ पर इन सिद्धांतों का संकलन हो, उन ग्रंथों का भी नाम 'दर्शन' ही होगा, जैसे न्यायदर्शन, वैशेषिक दर्शन आदि।

दर्शनग्रंथों का पर्याय 'दर्शनशास्त्र' भी है, जो 'शासु अनुशिष्टौ' धातु से निष्पन्न होने के कारण दर्शन का अनुशासन किंवा उपदेश करता है। इसलिए 'अथ योगानुशासनम्' 'अथ शब्दानुशासनम्' प्रभृति वाक्यों का विधान शास्त्रों में देखा जाता है। अतएव दर्शन अर्थात् साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों के अंतश्चक्षु या दिव्यचक्षुओं द्वारा देखे गए तत्त्वों के उपदेशक ग्रंथों का नाम 'दर्शनशास्त्र' पड़ा।

परमाणुवाद अथवा परमाणु कारणवाद न्याय-वैशेषिकों का एक विशेष सिद्धांत है, जिसकी रचना परमाणुओं द्वारा हुई है। कारणात्मक द्रव्य में यह परमाणु-स्वरूप उपादान असत् उत्पत्ति के पहले अविद्यमान अवयवी द्रव्य की उत्पत्ति ही 'आरंभ' नाम से कथित होने के कारण इसको 'आरंभवाद' अथवा 'असत्कार्यवाद' के नाम से भी जाना जाता है।

इस जगत् के सारे भौतिक पदार्थ सावयव और उत्पत्ति-विनाशशील हैं तथा नित्य परमाणुओं के विभिन्न संयोगों से बनते हैं। अत: पदार्थ की उत्पत्ति का अर्थ 'परमाणु-संयोग' कहा गया है तथा विनाश का अर्थ उसका विभाग है। सृष्टि के मूलतत्त्व परमाणु नित्य हैं। भौतिक पदार्थों के अवयवों का विभाजन किया जा सकता है और इन विभक्त अवयवों को पुन: अन्य अवयवों में विभक्त किया जा सकता है। साथ ही अनवस्था दोष से बचने के लिए अंतिम अवयवों को स्वयं में निरवयव और अविभज्य मानना पड़ेगा। इस प्रकार अतींद्रिय, अविभाज्य और नित्य भौतिक द्रव्य 'परमाणु' हैं, जिसे न्याय-वैशेषिक में जगत्कारण माने गए हैं।

परमाणुओं में आद्यस्पंदन होते ही एक परमाणु दूसरे परमाणु से जुड़कर, द्व्यणुक बन जाता है। सारे परमाणुओं का द्व्यणुकों में परिवर्त्तित होते ही उनसे सृष्टि रचना होती है। तीन द्व्यणुकों से त्र्यणुक और चार त्र्यणुकों से चतुरणुक बनते हैं और फिर यह क्रम चलता रहता है तथा स्थूल महाभूत आदि की उत्पत्ति होती है।

यह परमाणुवाद, जड़वाद या भौतिकवाद नहीं है, अपितु आध्यात्मिक वस्तुवाद है। क्योंकि वैशेषिकों को जड़ परमाणुवाद के साथ उनमें स्वतंत्र आत्मद्रव्य की सत्ता स्वीकार है। परमाणुवाद का 'ल्युसियस' और 'डिमाक्रिट्स' के ग्रीक परमाणुवाद से इस बात में साम्य है कि दोनों के अनुसार परमाणु निरवयव, अविभाज्य, अतींद्रिय या नित्य भौतिक द्रव्य है तथा इस जड़-जगत के उपादान कारण हैं।

सामान्यत: जनता न्यायालय, न्यायाधीश शब्दों को सुनकर तथा पंचायतों में न्याय होते देख यही जानती है कि इस 'न्याय' शब्द का अर्थ 'फैसला' होता है। जबकि कुछ लोग इसका अर्थ 'सन्मार्ग' मानते हैं। अनर्घराघव में मुरारि मिश्र लिखते हैं कि न्याय में प्रवृत्त व्यक्तियों की सहायता पशु-पक्षी भी करते हैं, परंतु कुमार्ग पर चलने वाले को तो सगा भाई भी छोड़ देता है—

''यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम्।
अपन्थानंतु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति।।''

कहीं कहीं 'न्याय' का व्यवहार 'कहावत' 'लोकोक्ति' अर्थ में भी होता है, यथा मंडूकप्लुतिन्याय, काकतालीयन्याय, स्थालीपुलाकन्याय आदि में 'न्याय' पद लोकोक्तिपरक ही है। इसी प्रकार न्याय का अर्थ कहीं कहीं दृष्टांतपरक भी किया जाता है, जैसे कनककुंडलन्याय में देखा जा सकता है। अभिप्राय यह है कि बह्वर्थक 'न्याय' शब्द का 'न्यायदर्शन' आदि में कौन सा अर्थ ग्राह्य है इसके उत्तर में स्वयं वात्स्यायन ने समाधान दिया है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा किसी पदार्थ की परीक्षा करने का नाम ही 'न्याय' है।

सर्वदर्शनसंग्रह में माधवाचार्य ने 16 विभिन्न दर्शनों का विवेचन किया है, जिनमें आस्तिक-नास्तिक के छ:-छ: और शैव दर्शन के चार प्रमुख दर्शन सम्मिलित हैं। वैदिक दर्शनों में वैशेषिक की अधिक प्रतिष्ठा नहीं है, जबकि योगदर्शन का क्रियात्मक प्रयोग बहुत कम मिलता है। पूर्व मीमांसा का हिंदू कानून के साथ जहाँ निकट का संबंध है, वहीं न्याय दर्शन का तर्कपक्ष अधिक प्रचलित है। सांख्य का प्रचार नहीं के बराबर है और वेदांत अपने भिन्न भिन्न रूपों में प्राय: सर्वत्र छाया हुआ है।

वेदों की प्रामाणिकता मानना या न मानना ही आस्तिक-नास्तिक होने का मापदंड माना गया है, ईश्वर की सत्ता को मानना या न मानना कोई महत्त्व नहीं रखता। इसीलिए 'नास्तिको वेदनिंदक:' या 'प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु' कहा गया है। परंतु न्यायकोषकार भीमाचार्य के अनुसार आस्तिक वह है, जो 'परलोकाद्यस्तित्ववादी' हैं और नास्तिक 'वेदमार्गमननुरुन्धान' है। इन्हीं कारणों से अनीश्वरवादी सांख्य को परवर्ती काल के आस्तिक विचारक सनातन दर्शन के अंतर्गत मानने को तैयार नहीं थे। अद्वैतवेदांत को भी इन्होंने दूसरी कोटि में ही रखा है—''मायावादिवेदान्त्यपि नास्तिक एव पर्यवसाने

सम्पद्यते।'' कुमारिल ने भी सांख्य, योग, पंचरात्र और पाशुपत दर्शनों को बौद्धदर्शन की भाँति नास्तिक ही माना है[1]। जब कि षड्दर्शनसमुच्चय में हरिभद्र ने योग और वेदांत के स्थान पर बौद्ध और जैन दर्शनों को परिगणित किया है (1/3), जिससे जिनदत्त और राजशेखर भी सहमत दिखते हैं।

भारतीय विचारधारा के अन्य दर्शन संसार की अखंडरूप में विवेचना करने के कारण जहाँ मुख्यतया कल्पनापरक हैं, वहीं न्याय-वैशेषिक साधारण ज्ञान-विज्ञान का आश्रय लेकर विश्लेषणात्मक दर्शन का प्रतिनिधित्व करते हैं । इन दोनों संप्रदायों में यही विशेषता है कि ये एक ऐसी विधि का प्रयोग करते हैं कि, जिसे इनके अनुयायी वैज्ञानिक मानते हैं। तार्किक जाँच तथा आलोचनात्मक विधि का प्रयोग करके, ये यह दरशाने का प्रयत्न करते हैं कि बौद्ध विचारक जिन परिणामों पर पहुँचे हैं, वे आवश्यक रूप से अभिमत नहीं थे। इन दर्शनों का मुख्य उद्देश्य उन संशयवादी परिणामों का निराकरण करना है, जो बौद्धों के प्रत्यक्ष ज्ञानवाद से निकलते हैं, क्योंकि वह बाह्य यथार्थ को मन के विचारों में मिला देता है।

न्याय और वैशेषिक दोनों क्रमशः आंतरिक तथा बाह्य जगत् की व्याख्या करते हैं। अत्यंत विस्तार के साथ न्याय ज्ञान-प्राप्ति की पद्धति की व्याख्या करता है और बलपूर्वक उस संशयवाद का युक्तियुक्त विरोध करता है, जो कि प्रत्येक पदार्थ की अनिश्चितता की घोषणा करता है। ये दोनों दर्शन बहुत समय से एक-दूसरे के पूरक माने जाते रहे हैं। कभी-कभी यह बताया जाता है कि उक्त दोनों दर्शन एक ऐसे उद्गम से निकली दो स्वतंत्र विचार धाराएँ हैं, जिसमें ज्ञात पदार्थों तथा ज्ञान के साधनों का विवेचन किया गया था । बाद के ग्रंथकारों ने भी दोनों दर्शनों को एक ही सामान्य विचारधारा का अंग स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ वरदराजकृत तार्किकरक्षा, केशवमिश्रकृत तर्कभाषा, शिवादित्यकृत सप्तपदार्थी, विश्वनाथकृत भाषा परिच्छेद व सिद्धांतमुक्तावली, अन्नम्भट्टकृत तर्कसंग्रह व दीपिका, जगदीशकृत तर्कामृत, लौगाक्षिभास्कर कृत तर्क कौमुदी सहित बौद्धविचारक आर्यदेव और हरिवर्मन् न्याय को वैशेषिकदर्शन से स्वतंत्र नहीं मानते। यहाँ तक कि वात्स्यायन के न्यायभाष्य[2] में दोनों के अंदर भेद नहीं किया गया है और वैशेषिक का उपयोग न्याय के परिशिष्ट के रूप में हुआ है।

यही कारण रहा होगा कि इन्हें समानतंत्र अथवा संयुक्त दर्शन नाम से भी पुकारा जाता था। यह भी सही है कि दोनों ही दर्शन जीवात्माओं के अनेक होने, एक पृथक् ईश्वर की सत्ता, परमाणुरूप जगत् की सत्ता में विश्वास करते हैं और बहुत-सी एक जैसी युक्तियों का उपयोग करते हैं।

यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि उक्त दोनों ही दर्शन-पद्धतियाँ बहुत प्राचीन काल में ही एक साथ मिल गई थीं, फिर भी जहाँ एक ने तर्क के विषय का प्रतिपादन किया,

वहीं दूसरे ने भौतिक जगत् की व्याख्या की है, जिस कारण दोनों में भेद प्रकट होता ही है। अतएव उद्योतकर[3] ने कहा होगा अन्य विज्ञानों का कार्य प्रमाणों के विषयका प्रतिपादन करना नहीं है, यद्यपि वे उन पदार्थों का प्रतिपादन करते हैं, जो उनके द्वारा जाने गए हैं। न्यायशास्त्र तर्क के द्वारा पदार्थों के ज्ञान की प्रक्रियाओं और प्रणालियों का वर्णन करता है, जबकि वैशेषिक पदार्थों की परमाणु द्वारा रचना की व्याख्या करता है। इसे न्याय ने बिना किसी तर्क के स्वयंसिद्ध स्वीकार कर लिया है। अतः दोनों दर्शनों को 'युग्म-दर्शन' मानने के बावजूद भी अलग-अलग मानना ही समीचीन होगा।

'न्याय' पद की निष्पत्ति 'नी-धातु' से हुई है। 'नीयन्ते अर्थात् अस्मिन् अनेन वा इति न्यायः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जहाँ पर शब्दार्थ या वाक्यार्थ किसी विशेष अर्थ में प्रयोग की सिद्धि करे, वही न्याय है। परंतु इससे विलक्षण निष्पत्ति नि उपसर्ग पूर्वक 'इण् गतौ' धातु से घञ् प्रत्यय लगाकर होती है। 'अध्याय न्यायोद्यावसंहाराच्च' (3/3/122) पाणिनि का सूत्र भी है। अतः 'नियंति अस्मिन्निति न्यायः' ही सही है। 'इ' से 'घः' होने पर 'आय' और उसमें 'नि' लगा देने से 'न्याय' की निष्पत्ति होगी। परंतु सामान्यतया 'नीयते अनेन' की व्युत्पत्ति ही अधिक प्रचलित है। कारण 'न्याय' शब्द का अर्थ है वह प्रक्रिया, जिसके द्वारा मस्तिष्क एक निष्कर्ष तक पहुँच सके—'नीयते विवक्षितार्थः अनेन इति न्यायः।' अर्थात् जिस साधन से हम अपने विवक्षित तत्त्व तक पहुँचते हैं, उसे जान पाते हैं, वही साधन 'न्याय' है। न्यायभाष्य में भी कहा गया है—'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः।' इस प्रकार न्याय 'तर्क' का पर्यायवाची शब्द है। और वह दर्शन, जो अन्य दर्शनों की अपेक्षा अधिक पूर्णता के साथ तर्क-विषय का प्रतिपादन करता है, 'न्याय दर्शन' कहलाता है। तर्क दो प्रकार का कहा गया है—मान्य और अमान्य। सामान्यतः 'न्याय' शब्द ठीक या उचित के अर्थ में प्रयुक्त होता है और इसीलिए ठीक या उचित तर्क के विज्ञान का नाम 'न्याय' पड़ा। संकुचित अर्थों में न्याय से तात्पर्य परार्थानुमान तर्क (Syllogism Reasoning) से है, जबकि व्यापक अर्थों में प्रमाणों के द्वारा किसी विषय की समीक्षा करने का नाम न्याय है। वात्स्यायन ने परार्थानुमान के लिए 'परम न्याय' शब्द का प्रयोग किया है, जिसके अपने-आप में पाँच भाग हैं। दिङ्नाग भी परार्थानुमान के अवयवों को न्यायावयव नाम से पुकारता है। वाचस्पति की न्यायसूची में परार्थानुमान विषयक अध्याय को न्याय-प्रकरण नाम दिया गया है, जबकि विश्वनाथ का तात्पर्य 'न्यायस्वरूप' से परार्थानुमान का ही स्वरूप अभिप्रेत है। इसी तरह माधवाचार्य ने भी सर्वदर्शनसंग्रह में न्याय शब्द का प्रयोग परार्थानुमान के अर्थ में ही किया है। इस दृष्टि से यह विशुद्ध ज्ञान का विज्ञान है, प्रमाणित करनेवाला 'प्रमाणशास्त्र' है।

जिस प्रकार साहित्य आदि विद्याओं के ज्ञान के लिए व्याकरण की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार अन्य दर्शनशास्त्र के ज्ञान में न्यायविद्या की अपेक्षा होती है। इसी कारण प्रायः लघुकौमुदी और तर्कसंग्रह को द्वारग्रंथ की संज्ञा दी गई होगी, क्योंकि इन दोनों के बिना संस्कृत वाङ्मय में प्रवेश असंभव है।

दर्शनशास्त्र की प्रगति, साधारणतः किसी ऐतिहासिक परंपरा पर होनेवाले किसी प्रबल आक्रमण के कारण ही संभव होती है। जबकि मानव-समाज पीछे लौटने को और उन मूलभूत प्रश्नों को एक बार फिर उठाने के लिए बाध्य हो जाता है, जिनका समाधान उसके पूर्व पुरुषों ने प्राचीनतर योजनाओं के द्वारा किया था। भारतीय दार्शनिक चिंतन की एक महती लहर बौद्धकाल में उठी। बौद्ध विचारकों के लिए तर्क ही एक ऐसा शस्त्रागार था, जहाँ सार्वभौम खंडनात्मक समालोचना के शस्त्र गढ़े जाते थे। बौद्धधर्म ने मस्तिष्क को पुराने अवरोधों के कष्टदायक प्रभावों से मुक्त करने में विरेचन का काम किया। वास्तविक तथा जिज्ञासाभाव से निकला हुआ संशयवाद विश्वास को उसकी स्वाभाविक नींवों पर जमाने में सहायक होता है। नींव को अधिक गहराई में डालने की आवश्यकता का परिणाम ही महान् दार्शनिक हलचल के रूप में प्रकट हुआ, जिसने छः दर्शनों को जन्म दिया, जिनमें काव्य तथा धर्म का स्थान विश्लेषण और शुष्क समीक्षा ने ले लिया। दर्शनशास्त्र का समीक्षात्मक पक्ष उतना ही महत्त्वपूर्ण हो गया, जितना कि अभी तक प्रकल्पनात्मक पक्ष था। समालोचकों ने विरोधियों को इस बात के लिए विवश कर दिया कि वे अपनी प्रकल्पनाओं की प्रामाणिकता किसी दिव्य ज्ञान के सहारे सिद्ध न करें, बल्कि ऐसी स्वाभाविक पद्धतियों द्वारा सिद्ध करें जो जीवन और अनुभव पर आधारित हों। इसके बाद ही आत्मविद्या अर्थात् दर्शन को आन्वीक्षिकी अर्थात् अनुसंधानरूपी विज्ञान का सहारा मिला। मनु[4] और वात्स्यायन[5] की 'आन्वीक्षिकी' कौटिल्य[6] के मत में विद्याध्ययन की एक अलग ही शाखा है। इस आन्वीक्षिकी नाम के स्थान पर ई.पू. पहली शती में 'दर्शन' शब्द प्रयुक्त होने लगा[7]।

प्रत्येक जिज्ञासा संशय को लेकर ही आरंभ होती है तथा एक आवश्यकता की पूर्ति करती है। भामतीकार[8] ने कहा भी है—'जिज्ञासया संदेहप्रयोजने सूचयति'।

दार्शनिक विचारों को तर्क की कसौटी पर कसना कट्टरवादियों को पसंद नहीं आया। इसी कारण रामायण में आन्वीक्षिकी को निंदित माना गया है, क्योंकि वह मनुष्यों को धर्मशास्त्रों की आज्ञाओं से विमुख करती है[9]। मनु[10] ने भी तर्क (हेतुशास्त्र) द्वारा पथभ्रष्ट हुए लोगों का धर्मसूत्रों का अनादर करने के कारण बहिष्कार करने की बात लिखी है। जब यही तर्क धर्मशास्त्र का समर्थन करता है तो उसकी प्रशंसा भी होती है। व्यासदेव ने भी वेदों की व्यवस्था आन्वीक्षिकी के द्वारा ही की थी[11]।

वस्तुतः न्यायशास्त्र का उद्भव कब से माना जाए, यह विवादास्पद है। छांदोग्योपनिषद्[12] में पठनीय विषयों में 'वाकोवाक्य' नामक किसी विद्या का उल्लेख हुआ है, किंतु उसका स्वरूप क्या था—कहना कठिन है। इसलिए वर्तमान तर्कशास्त्र या न्यायशास्त्र पर उसके प्रभाव आदि के बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता। अतएव स्पष्ट रूप से इतना ही कहा जा सकता है कि अक्षपाद गौतम द्वारा प्रणीत 'न्यायसूत्र' ही न्यायदर्शन का मूल ग्रंथ है, जिसके ऊपर वात्स्यायन का प्रामाणिक भाष्य पाया जाता है। इसके बाद बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग के द्वारा जब न्यायदर्शन की आलोचना और प्रत्याख्यान होने लगा, तो भारद्वाज गोत्रीय उद्योतकर ने वात्स्यायन भाष्य के आधार पर न्याय दर्शन को सबल बनाने के लिए विलक्षण वार्तिक की रचना की। यह न्यायशास्त्र के प्रमेयों को स्पष्ट रूप में समझने के लिए भी बहुत उपादेय सिद्ध हुआ। उद्योतकर का समय 7 वीं.शताब्दी का मध्यभाग माना जाता है। संभवतः इनका प्रादुर्भाव छट्ठी शताब्दी के अंत में हुआ था। क्योंकि उद्धोतकर ने दिङ्नाग की प्रत्यक्ष-लक्षण-कल्पना 'प्रौढ़ प्रत्यक्षम्' का खंडन किया था और 7 वी.शताब्दी के उत्तरार्ध में धर्मकीर्ति ने उसमें 'अभ्रान्तम्' पद जोड़कर उसे सम्हाला था। अतः उद्योतकर का समय दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के बीच मानना अधिक युक्तियुक्त है।

उद्योतकर के पश्चात् मिथिला में सकल-दर्शन-निष्णात वाचस्पति मिश्र का समय आता है; जिनके प्रगाढ़ वैदुष्य ने प्रायः प्रत्येक आस्तिक दर्शन को आलोकित किया है। इन्होंने उद्योतकरकृत न्यायवार्तिक पर उच्चकोटि की तात्पर्यटीका लिखी, जिसका लक्ष्य था अन्य लेखकों के भ्रामक भाष्यों के कारण डूबती हुई उद्धोतकर की वाणी का उद्धार करना। जैसा कि स्वयं उन्होंने कहा भी है—

''इच्छामि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबंधपंकमग्नानाम्।
उद्योतकरगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात्।।''

वाचस्पति के बाद 10 वीं शताब्दी में समुत्पन्न उदयनाचार्य ने उनकी तात्पर्यटीका पर 'परिशुद्धि' नामक व्याख्या की रचना की। इसके अतिरिक्त इनके दो मौलिक ग्रंथ भी खूब प्रसिद्ध हुए—आत्मतत्त्वविवेक और न्यायकुसुमांजलि। इनमें से एक में शून्यवादियों किंवा अनात्मवादियों के मतों की धज्जियाँ उड़ाई गई हैं तो दूसरे में अनीश्वरवादियों का खंडन कर ईश्वर की सत्ता की तर्कपूर्ण प्रतिष्ठा की गई है।

उदयन के साथ ही प्राचीन न्यायधारा अवरुद्ध हो गई, उसके बाद प्राचीन न्याय पर कोई मौलिक ग्रंथ नहीं लिखा गया—ऐसा प्रतीत होता है। हाँ, टीका परंपरा अवश्य कुछ आगे तक चली है, जिन में तात्पर्यपरिशुद्धि पर वर्धमान (14 वीं शताब्दी पूर्वार्ध) ने 'प्रकाश' और उस पर पद्मनाभ मिश्र (16 वीं शताब्दी) ने 'वर्धमानेंदु' की रचना की। इसी प्रकार तात्पर्यटीका पर वटेश्वर उपाध्याय (14 वीं शताब्दी) ने 'दर्पण' और

शंकर मिश्र (15 वीं शताब्दी) ने 'तात्पर्यमंडन' लिखा। 'तात्पर्यपरिशुद्धि' पर ही इससे पहले 13 वीं शताब्दी में दिवाकर उपाध्याय ने 'उद्योत' की रचना की थी। जबकि वरदराजमिश्र (11 वीं शताब्दी), मणिकंठमिश्र (12 वीं शताब्दी), शशधर उपाध्याय (12 वीं शताब्दी), तरणि मिश्र (13 वी.शताब्दी) आदि की क्रमशः तार्किकरक्षा, न्यायरत्न, न्यायसिद्धांतदीप, रत्नकोष आदि मौलिक रचनाएँ भी उदयनपरवर्ती ही हैं। तथापि प्राचीन न्याय का सूर्यास्त उदयन के ही अस्त से माना जाता है।

न्यायदर्शन एक वस्तुवादी दर्शन है। अनुभव के आधार पर यह दर्शनशास्त्र के विवेचनीय तत्त्वों—जीव, जीवन के लक्ष्य, जगत् आदि की व्याख्या करता है। इसकी दृष्टि में जीव न तो अद्वैत वेदांत के सिद्धांत की तरह निष्क्रिय तथा भोगशून्य तत्त्व है और न बौद्धों की भाँति क्षणभंगुर विज्ञान परंपरा ही। इसका जीव कर्त्ता, भोक्ता, नित्य एवं ज्ञानादिसम्पन्न तत्त्व है। जीवन का परम लक्ष्य अपवर्ग है। अपवर्ग दुःख की निश्चित और शाश्वत निवृत्ति है। इस में भी न्यायदर्शन का दृष्टिकोण यथार्थवादी ही रहा है । दुःखनिवृत्ति का मानव जीवन में जितना महत्त्व है, उतना सुखप्राप्ति का नहीं। भारतीय चिंतकों के अनुसार दर्शन का उद्भव ही दुःखसंबंधी विचारणा से होता है। जैसा कि सांख्यतत्त्वकौमुदी में कहा गया है—"एवं हि शास्त्रविषयो न जिज्ञास्येत् यदि दुःखं नाम जगति न स्यात्।" अतएव न्यायशास्त्र का भी लक्ष्य दुःख-निवृत्ति करना ही है, जिसे हम मोक्ष-प्राप्ति कहते हैं।

न्यायशास्त्र के अनुसार यह जगत् सत्य है, मात्र माया-जाल नहीं। इस विश्व का प्रत्येक प्राणी इसका प्रतिक्षण अनुभव करता है, जिस कारण यह मिथ्या नहीं हो सकता। हाँ, इसके आदि-अंत हैं, पर उसका अर्थ जगत् का मिथ्या होना नहीं। यह तो नित्य एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणुओं से बनी एक सत्य वस्तु है। जीव के अदृष्टों की सहायता से ईश्वर इसका निर्माण और नियंत्रण करता है। इसे परमाणुओं का अव्यवस्थित समूह-मात्र मानना भी ठीक नहीं है।

यद्यपि न्यायसूत्र के प्रणेता गौतम ही सर्वमान्य और प्रसिद्ध हैं, तथापि उसके कर्तृत्व को लेकर इतिहास में मतैक्य नहीं है। कारण जहाँ वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति, माधव आदि आचार्य 'अक्षपाद' को न्यायसूत्रों की रचना का श्रेय देते हैं; वहीं पद्मपुराण, स्कंदपुराण आदि के आधार पर विश्वनाथ ने इसका रचयिता 'गौतम' को माना है। जबकि भास ने अपने प्रतिमा नाटक (अंक-5) में 'मेधातिथि' को न्यायशास्त्र का कर्त्ता स्वीकारा है । इसमें दो मत नहीं कि गौतम और अक्षपाद दोनों अभिन्न ऋषि थे, पर मेधातिथि का प्रसंक चिन्त्य अवश्य है।

पाँच अध्यायों में विभक्त गौतमीय न्यायसूत्र का प्रत्येक अध्याय दो-दो परिच्छेदों में विभाजित है। इसके माध्यम से महर्षि गौतम ने शास्त्रार्थों को नियमबद्ध करने हेतु

तर्कशास्त्र को विकसित किया, तर्क के सिद्धांतों को एक व्यवस्थित रूप दिया, सत्य से असत्य का भेद किया और अनेक प्रकार के वितंडा व वाक्छल का विस्तृत विवरण दिया है। इन्होंने अपने प्रथमसूत्र में ही जिन 16 ज्ञेय पदार्थों को गिनाया है, वही शास्त्रार्थ के द्वारा ज्ञानप्राप्ति के साधन हैं और उन्हीं के तत्त्वज्ञान से महर्षि ने मोक्ष का आश्वासन भी दिया है । न्यायदर्शन के ये षोडश पदार्थ हैं, क्रमशः—1. प्रमाण, ज्ञान के साधन 2. प्रमेय, ज्ञान के विषय 3. संशय 4. प्रयोजन 5. दृष्टांत 6. सिद्धांत, मान्य सत्य 7. अवयव, परार्थानुमान के घटक 8. तर्क, अप्रत्यक्ष प्रमाण 9. निर्णय, सत्य का निश्चय 10. वाद, बहस, 11. जल्प, निरर्थक कथन 12. वितंडा, खंडनात्मक समालोचना 13. हेत्वाभास, दोषपूर्ण युक्तियाँ 14. छल 15. जाति, निरर्थक आपत्तियाँ तथा 16. निग्रहस्थान अर्थात् दोषारोपण के अवसर।

इनमें पिछले सात की अपेक्षा आदि के नव पदार्थ अधिक सही अर्थों में तर्कसम्मत हैं, क्योंकि पिछले सातों का कार्य अधिकतर भ्रमात्मक ज्ञान का निषेध है। ये मूल को मिटाने के लिए हथियार का काम तो करते हैं, पर सत्य की प्रस्थापना का कार्य उतना नहीं करते।

उपर्युक्त इन षोडश पदार्थों में 'प्रमाण' प्रथम और मुख्य है, वही ज्ञान का साधन है, सबका तत्त्वज्ञान भी उसी के अधीन है। न्यायशास्त्र के अनुसार प्रमाण चार हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। इन सबमें नैयायिकों की दृष्टि से 'अनुमान' सर्व प्रधान है, क्योंकि सभी प्रमाणों का प्रामाण्य अनुमान पर ही निर्भर रहता है। औपनिषद् धारा में 'मनन' का महत्त्व भी अनुमान की ही महत्ता सिद्ध करता है। क्योंकि मनन अनुमान का ही दूसरा नाम है। अनुमान किंवा परार्थानुमान का स्वरूप पञ्चावयव-वाक्य है। अतः यदि यह सत्य है कि अपवर्ग तत्त्वज्ञान से ही प्राप्त हो सकता है, तत्त्वज्ञान प्रमाणों द्वारा ही संभव है और प्रमाणों में अनुमान मुख्यतम है, तो यह भी सिद्ध है कि तत्त्वज्ञान और प्रमाण 'न्याय' है। साथ ही अनुमान-परार्थानुमान-पञ्चावयववाक्य प्रमुख न्याय, 'परमन्याय' है। जैसा कि 'न्यायसार'[13] में कहा गया है—'सोऽयं परमो न्यायः' । इस दृष्टि से अनुमान की विशेष व्याख्या करनेवाली विद्या 'न्यायशास्त्र' है। इसका 'आन्वीक्षिकी' पर्याय भी इसी सत्य को स्पष्ट करता है—"प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्य अन्वीक्षणमन्वीक्षा, तया प्रवर्त्तते इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रमिति"[14] । हेतुविद्या, हेतुशास्त्र आदि पर्याय भी इसके इसी आधार पर प्रतिष्ठित हैं। अनुमान का, या यों कहिए कि सभी प्रमाणों का, सबसे बड़ा सहायक अंग तर्क (Hypothetical argument) है और इसीलिए न्यायशास्त्र को तर्कशास्त्र या तर्कविद्या कहा जाता है।

न्याय दर्शन को सामान्यतः तीन कालखंडों में विभाजित कर सकते हैं—प्राचीनकाल, मध्यकाल और आधुनिककाल। इनमें प्राचीनकाल, उदयनावधि माना जा

सकता है और मध्यकाल गंगेशावधि, जबकि गंगेशोत्तर काल को नव्यन्याय काल, आधुनिक काल की संज्ञा दी जा सकती है।

संदर्भ

1. त.वा. 1/3/4 ।
2. न्या.भा. 1/1/4, 2/2/34, 3/1/33, 3/1/67
3. न्या.वा. 1/1/1
4. मनु. 7/43
5. न्या.भा. 1/1/1
6. कौटिल्य. 1/2
7. म.भा., शा.प. 10/45 ; भाग. 8/14/10
8. भामती 1/1/1
9. रामा. 2/100/36 ; म.भा., शा.प. 180/47-49, 246-48
10. मनु. 2/11
11. न्यायसूत्रवृत्ति 1/1/1
12. छा.उ. 7/1/2
13. न्यायसार, पृ.328
14. न्यायभाष्य 1/1/1

2

न्यायशास्त्र और पर्याय

इसमें दो मत नहीं कि न्यायविद्या अति प्राचीन काल से ही प्रतिष्ठा का विषय रहा है। हिंदुओं के पाँच प्राचीन पाठ्य विषयों—काव्य, नाटक, अलंकार, न्याय और व्याकरण-में भी न्याय की परिगणना होती थी। प्रत्येक हिंदू दर्शन न्याय द्वारा प्रतिपादित मौलिक सिद्धांतों को स्वीकार करता है, यहाँ तक कि इस दर्शन की आलोचना के लिए भी इसकी तार्किक परिभाषाओं का आश्रय लेता है। और तो और, जहाँ मनु ने इसका समावेश श्रुति के अंदर किया है, वहीं याज्ञवल्क्य ने इसे वेद के चार अंगों में से एक माना है। इस दृष्टिकोण से 'न्याय' एक प्रकार से समस्त व्यवस्थित दर्शन-विज्ञान की भूमिका है।

यह शास्त्र विभिन्न नामों से जाना जाता है, जिन में आन्वीक्षिकी, हेतुशास्त्र, वाकोवाक्य, योग, प्रमाणशास्त्र, न्यायशास्त्र, न्यायविस्तर आदि प्रमुख हैं।

तर्कशास्त्र के अध्ययन के विकास के भिन्न-भिन्न पहलुओं को जानना कोई असंभव नहीं है। सबसे पहले आन्वीक्षिकी आती है, जिसे महाभारत में न्यायशास्त्र के साथ पृथक स्थान प्राप्त है। शीघ्र ही यह आन्वीक्षिकी न्याय के साथ मिल जाती है और प्राचीन संप्रदाय के सूत्रों में अखंड विश्व का आध्यात्मिक दृष्टिकोण भी हमें उसके तार्किक सिद्धांतों के साथ साथ मिलते दिखने लगता है। वात्स्यायन लिखते भी हैं कि सर्वोच्च लाभ की प्राप्ति तभी होती है, जब मनुष्य चार यथार्थ प्रकृति को सही तरह से समझ लेता है[1] । वे यह भी लिखते हैं 'प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानं सान्वीक्षा, तया प्रवर्त्तत इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्' । यहाँ 'प्रत्यक्षागमाश्रित' पद 'प्रत्यक्षागम-अविरोधी' का ही द्योतन करता है। जैसा कि मनुस्मृति[2] में कहा गया है—

''आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः।।''

वस्तुतः तर्क पद से भी यहाँ अनुमानात्मिका अन्वीक्षा ही विवक्षित है । महामना मनु[3] का मानना भी है—

''त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दंडनीतिश्च शाश्वतीम्।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्त्तारंभांश्च लोकतः।।''

इसी आन्वीक्षिकी शब्द को लेकर कौटिल्य ने भी लिखा है—

''आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दंडनीतिश्च शाश्वती।''

धर्मशास्त्र एवं इंद्रियों द्वारा प्राप्त किए जाने वाले ज्ञान की जो सामग्री हमारे सम्मुख आती है, उसकी तार्किक छानबीन का ही प्राचीन नाम आन्वीक्षिकी है—'प्रत्यक्षागमाभ्याम् आक्षिप्तस्य अन्वीक्षा, तया वर्तत इत्यान्वीक्षिकी'[4]। अभिप्राय यह है कि इसे अन्वीक्षा अर्थात् अनुसन्धान इसलिए कहा जाता है कि इसका कार्य प्रत्यक्ष तथा शब्दप्रमाण के आधार पर पहले देखी हुई (ईक्षित) वस्तु का पुनरपि ईक्षण (अनु-ईक्षण) करना होता है। वस्तुतः 'आन्वीक्षिकी' विद्या का प्रयोग अध्यात्म विषयक समस्याओं की तार्किक समीक्षा के लिए हुआ था। साथ ही इसका प्रयोग व्यापक अर्थ में भी देखा गया है, जिससे इसमें सांख्य-योग-लोकायत्त आदि उन समस्त व्यवस्थित प्रयासों का समावेश हो जाता है, जो दार्शनिक समस्याओं को सुलझाने के लिए किए गए थे। वस्तुतः नैयायिक उस सबको सत्य मानता है, जो तर्क की कसौटी पर ठीक उतर सकता है—''बुद्ध्या यद् उपपन्नं तत्सर्वं न्यायमतम्''। वात्स्यायन और उद्योतकर इस विषय पर बल देते हैं कि यदि न्यायदर्शन केवल जीवात्मा और उसकी मुक्तावस्था के विषय का ही प्रतिपादन करता तो उपनिषदों से उक्त दर्शन में भेद ही क्या रह जाता, क्योंकि वे भी इन समस्याओं का विवेचन करते हैं। न्यायदर्शन की विशेषता यही है कि यह आध्यात्मिक समस्याओं का आलोचनात्मक दृष्टि से विवेचन करता है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार न्यायशास्त्र का उद्देश्य ज्ञान के विषयों की तर्क-बुद्धि द्वारा आलोचना और छानबीन करना है—'प्रमाणैरर्थ परीक्षणम्'[5]।

न्याय को कभी कभी 'तर्कविद्या' व 'वादविद्या' (वाद-विवाद संबंधी विज्ञान) नाम भी दिया जाता है। बहस अथवा वाद बौद्धिक जीवन का प्राण है। सत्य के अन्वेषण के लिए इस विधि का आश्रय ग्रहण करना आवश्यक हो जाता है। सत्य स्वयं में एक अत्यंत जटिल विषय है और इसीलिए बिना विभिन्न मस्तिष्कों के सम्मिलित सहयोग के सत्य के अन्वेषण में सफलता नहीं मिलती। अरस्तू का मनना है कि कुछ व्यक्ति विषय के एक पहलू को देखते हैं, तथा अन्य दूसरे पहलू को। किंतु सब मिलकर विषय के सभी पहलुओं को देख सकते हैं। यही कारण है कि छांदोग्य[6], बृहदारण्यक[7], प्रश्न[8] आदि उपनिषदों में ऐसी विद्वत्परिषदों का उल्लेख मिलता है, जिनमें दार्शनिक या विवादास्पद विषयों पर वाद-विवाद हुआ करते थे।

ऐसे ही वाद-विवाद एवं शास्त्रार्थों से गौतम के न्यायशास्त्र का जन्म और उसका विकास हुआ, जिनका प्रचार और सम्मान राजदरबारों एवं दार्शनिकों के बीच बराबर था।

मनुस्मृति[9] के 'योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्विजः' पद्यांश से इसकी हेतुशास्त्रता सिद्ध होती है। अनुमान-प्रधान शास्त्र ही हेतुशास्त्र है, क्योंकि वही इसका मूलार्थ है। हेतु ही तर्क है अर्थात् प्रमाणप्रदर्शित विषय में युक्तायुक्त विचार करना तर्क कहलाता है, जो प्रमा साधनभूत प्रत्यक्षादि का अनुग्राहक हुआ करता है। इसीलिए तात्पर्याचार्य कहते हैं—'प्रमाणं तत्त्वावधारणाय प्रवृत्तं करणतया इति कर्त्तव्यतामपेक्ष्यते। तर्कश्च प्रमाणविषययुक्तायुक्तविचारात्मा प्रमाणं युक्तेतत्त्वेप्रवर्त्तमानमनुजानन् प्रमाणमनुगृह्णाति ।'

छांदोग्योपनिषद्[10] में ''वाकोवाक्यमेकायनम्'' करके इसी तर्कशास्त्र की ओर ध्यान दिया गया है। जबकि कैयट ने भी पस्पशाह्निक में 'वाकोवाक्यम्, इतिहासः, पुराणं, वैद्यकम् इत्येतावान् शब्दस्य प्रयोग विषयः' लिखा है।

न्यायभाष्य[11] के प्रतितंत्र सिद्धांतलक्षणसूत्र में 'पुरुषकर्मादिनिमित्तो भूतसर्गः इति योगानाम्' करके जिस योग का उल्लेख किया गया है, वह न्यायदर्शन ही है। इस दिशा में 'यथा भौतिकानींद्रियाणीति योगानाम्' यह वार्त्तिक भी परम अनुसन्धेय है।

भाष्य में जहाँ 'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः' कहा गया है, वहीं वार्त्तिककार ने 'समस्तप्रमाणव्यापारादर्थाधिगतिर्न्यायः' लिखा है। इसका तात्पर्य यह है कि आगम, प्रतिज्ञा, हेतु, अनुमान, उदाहरण, प्रत्यक्ष, उपमान तथा उपनय की प्रवृत्ति का नाम 'न्याय' है। इसीलिए वाचस्पति मिश्र ने कहा है 'पञ्चरूपश्चतुर्रूपो वा हेतुर्न्यायः प्रतिज्ञाद्यवयवसमूहो वा न्यायः'। पञ्चावयवात्मक न्याय-व्युत्पादक होने के कारण ही न्याय को 'न्यायविस्तर' नाम दिया गया है।

परंतु कहीं-कहीं 'न्याय' शब्द मीमांसादर्शन के लिए भी प्रयुक्त देखे जाते हैं। इसी प्रकार 'हेतु' अथवा 'तर्कविद्या' के लिए 'मीमांसा' का व्यवहार यही अनुमान कराता है कि ये दोनों दर्शन एक ही हैं। युक्तायुक्त विचारात्मक तर्क के लिए 'मीमांसा' का प्रयोग तात्पर्यटीका में 'मीमांसासंज्ञकस्तर्कः सर्ववेदसमुद्भवः' करके हुआ है। तथापि एक में सामान्यतः तर्क का लक्षण, उसके अंगोपांग का वर्णन, आभासादि निरूपण पाए जाते हैं तो दूसरे में विवादास्पद वेद वाक्यों को लेकर उसके वाक्यार्थ निर्णय हेतु 'तर्क' का ग्रहण किया गया है। अतः दोनों में भेद है।

वस्तुतः प्रत्येक विज्ञान 'न्याय' के नाम से पुकारा जा सकता है, क्योंकि न्याय का शाब्दिक अर्थ है किसी विषय के भीतर जाना अर्थात् उसकी विश्लेषणात्मक समीक्षा करना। इसलिए हम न्यायदर्शन को, जिसमें आलोचनात्मक छान-बीन की सामान्य योजना और पद्धति का अध्ययन किया जाता है, विज्ञानों का विज्ञान कह सकते हैं। जब

गौतम ने मीमांसक आदि अन्य विचारकों की अपेक्षा तार्किक पक्ष की व्याख्या की ओर विशेष ध्यान दिया, तो उनके दृष्टिकोण का आन्वीक्षिकी के साथ तादात्म्य हो गया। इस तरह जो पारिभाषिक शब्द 'न्याय' पहले से ही सामान्य अर्थों में, प्रत्येक व्यवस्थित दर्शन के लिए प्रयुक्त होता था, अब एक शास्त्र-विशेष के लिए प्रयुक्त होने लगा।

प्रत्यक्षादि प्रमाणचतुष्टय का व्युत्पादक होने के कारण इसे 'प्रमाणशास्त्र' भी कहा जाता है। तभी तो शंकरभगवत्पाद ने व्यासजी के लिए 'पदवाक्यप्रमाणज्ञेनाचार्येण' विशेषण दिया है। यहाँ 'पद' व्याकरण का, 'वाक्य' मीमांसा का और 'प्रमाण' न्यायशास्त्र का ही द्योतक है। कल्पतरुकार ने भी कहा है—

''पदवाक्यप्रमाणाब्धेः परं पारमुपेयुषः।
वाचस्पतेरित्यर्थेऽप्यबोध इति साहसम्।।''

संदर्भ

1. न्या.भा. 1/1/1
2. म.स्मृ. 12/106
3. म.स्मृ. 7/43
4. न्या.भा. 1/1/1
5. तात्पर्यटीका 1/1/1
6. छांदोग्य. 5/3/1
7. बृहदा.उ. 6/2/1
8. प्रश्नोप. 1/6
9. म.स्मृ. 2/11
10. छांदोग्य. 7/2/1
11. न्यायभाष्यम् 1/1/29

3

मिथिला में दर्शन का विकास

वर्तमान बिहार प्रदेश, भागीरथी गंगा के प्रवाह के कारण, उत्तर और दक्षिण इन दो भागों में विभक्त है। उत्तरी भाग को 'मिथिला' और दक्षिणी भाग को 'मगध' नाम से जाना जाता है। इन दोनों के इतिहास अपने-आपमें बड़े महत्त्व के हैं। ये दोनों भाग आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में दो विभिन्न सभ्यताओं के केंद्र थे। प्राचीन वैदिक सभ्यता का केंद्र 'मिथिला' तथा अर्वाचीन बौद्ध सभ्यता का केंद्र 'मगध' था।

वेद-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद् आदि साहित्यों से गौतम, याज्ञवल्क्य-कात्यायन आदि ऋषि-महर्षियों के नाम एक मैथिल के रूप में हमें प्राप्त होते हैं, जिससे यह अनुमान करना कठिन नहीं है कि वैदिक काल से लेकर अद्य पर्यंत मिथिला में वैदिक सभ्यता की धारा अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। उस सभ्यता के दो प्रधान अंग यहाँ के मुख्य वैशिष्ट्य रहे हैं। पहला, आध्यात्मिक विचार और तदनुकूल जीवन निर्वाह, तथा दूसरा, कर्मकांड के अनुसार यज्ञ संपादित करना एवं धार्मिक आचार-व्यवहार का पालन करना।

भगवान् बुद्ध के आविर्भाव से गया में उनके द्वारा ज्ञान प्राप्त करने से मगध में वैदिक सभ्यता दबती गई और एक दूसरी सभ्यता ऊपर उठ खड़ी हुई। इसमें दो मत नहीं कि बुद्ध के उपदेशों में कोई नवीनता या अपूर्वता नहीं थी, वैदिक सभ्यता के ही किसी-किसी अंशविशेष को बुद्ध ने नवीन जीवन प्रदान किया था। उनके साक्षात् उपदेशों से भी यह ज्ञात नहीं होता कि वे वैदिक धर्मकलाप के विरुद्ध थे। उनका साक्षात् कथन बहुत अल्प ही पाया जाता है, फिर भी इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि वैदिक सभ्यता के कुछ आगंतुक दोषों को दूर करने का विचार उनके मन में अवश्य रहा होगा।

कालांतर में उनकी शिष्य-परंपरा ने अपने आचरणों से वैदिक सभ्यता के विरुद्ध अपना एक नवीन दल स्थापित किया। ये लोग क्रमशः प्राचीन सभ्यता के विरुद्ध

बोलने लगे और लोगों को बहकाने भी लगे । फलतः एक ही देश-प्रदेश में दो विरुद्ध सभ्यताओं के परस्पर आक्षेप प्रत्याक्षेपों से समाज में शांति भंग हुई।

यों तो वैदिक सभ्यता में 'ॐ शांतिः' की उद्घोषणा की ही गई है, तथापि यहाँ किसी प्रकार का उद्वेग नहीं, द्वेष नहीं, चांचल्य नहीं। नीरव प्रकृति के समान, व्यापक परमात्मा के समान तथा अनंत आकाश के सदृश यह सभ्यता कर्त्तव्य मात्र में लोगों को प्रेरित करना अपना एक मात्र उद्देश्य रखती है। किंतु, आत्मरक्षा के लिए, किसी से छेड़े जाने पर, उद्योग करना भी इसी सभ्यता का रूप रहा है। फलतः जब बौद्धों ने आक्षेपों का प्रहार इसके ऊपर करना आरंभ किया, वर्णाश्रमधर्म के विरुद्ध जनसामान्यों को बहकाने लगे, यज्ञ की निंदा कर धर्मप्राण वेदों को अप्रमाण बतलाने लगे तथा ईश्वर के अस्तित्व का खंडन करने लगे, तब स्वभावतः शांत प्रकृति के वैदिक सभ्यतावाले आत्मरक्षार्थ खड़े हो गए।

अस्त्र-शस्त्र की मार क्षणिक हुआ करती है, उससे ख़ून खराबा और मृत्यु होने लगती है। जब लोग ही नहीं बचेंगे तो फिर सभ्यता कैसे बच पाएगी? इसलिए वैदिक और बौद्ध दोनों शास्त्रीय तर्क-वितर्क के सहारे लड़ने लगे। प्रमाणों के द्वारा एक-दूसरे पक्ष का खंडन-मंडन करने लगे। प्रमाणों में प्रत्यक्ष के कारण बहुत झंझट नहीं हुआ। शब्द-प्रमाण में एक वाक्यता के अभाववश 'इदमित्थम्' तक पहुँचना कठिन था। फलतः इन्होंने 'तर्क' के द्वारा लड़ाई लड़ी, उसी के सहारे अपने मत की स्थापना एवं दूसरे का खंडन करना आरंभ किया।

सर्वप्रथम यह खंडन-मंडन 'आत्मा' व 'ईश्वर' के पृथक् अस्तित्व को लेकर हुआ, फिर 'वर्णाश्रम' के संबंध में। बौद्धों के पक्ष में क्षणिकवाद से लेकर शून्यवाद तक तथा याज्ञिकी हिंसा को अधर्म-साधन बतलाने के संबंध में आक्षेप होता था। इनके अतिरिक्त कई ऐसे छोटे-मोटे विषय और भी थे, जिनके सिद्धांतों में परस्पर भेद था। इस प्रकार तार्किक आलोचना इतनी बढ़ी कि 'मिथिला' तर्कप्रधान केंद्र के रूप में परिणत हो गई। तर्कशास्त्र या न्यायशास्त्र के ऊपर अनेक अपूर्व ग्रंथ लिखे जाने लगे। यह क्रम दशमशताब्दी तक इसी प्रकार आक्षेपयुक्त वाक्यों में चलता रहा। इन विषयों का विचार उदयनाचार्य ने अपने 'आत्मतत्त्वविवेक' एवं 'कुसुमांजलि' नामक ग्रंथों में किया है। प्रतीत होता है कि उदयन के पश्चात् बौद्धों में कोई विशिष्ट विद्वान् हुआ ही नहीं।

मिथिला को छोड़ अन्यत्र यह संघर्ष नहीं था, जिस कारण न्याय किंवा तर्कशास्त्र की जो उन्नति यहाँ हुई, वह कहीं और नहीं। बाद में बंगाल या दक्षिण भारत में जो न्यायशास्त्र का विकास हुआ, वह यहीं से गया। कालांतर में न्यायशास्त्र की तीन परंपराएँ उद्भूत हुईं—मैथिल परंपरा, बंगाल परंपरा और दक्षिण परंपरा। परंतु मिथिला

के सदृश अन्य किसी प्रदेश में इतने अधिक न्याय के न तो विद्वान् हुए और न ग्रंथों की रचना ही।

'न्याय' शब्द पूर्वमीमांसा के लिए भी व्यवहृत होता रहा है। इसलिए न्यायविद्या का यह अंग भी मिथिला में तर्कशास्त्र की ही भाँति पनपा, फैला और विकसित हुआ। पूर्वमीमांसा वस्तुतः कोई दार्शनिकशास्त्र नहीं है। इसका उद्देश्य बस केवल 'धर्म-निरूपण' करना है। 'न्यायों' के द्वारा वैदिक मंत्रों का यथार्थ अर्थ करना तथा उनका सद्विनियोग दिखाना पूर्वमीमांसा का तो गौण उद्देश्य है। यज्ञ कराने की विधि इसी शास्त्र में है, अतः बौद्धों का इस पर भी उतना ही प्रहार हुआ, जितना न्यायशास्त्र पर। वैदिक कार्य-कलाप को युक्तियों के द्वारा बौद्धों ने अधर्म-साधन बतलाने का प्रयत्न किया, स्वर्ग का निराकरण किया, वेदों के प्रत्येक अंग पर आक्षेप किए। आस्तिकों की ओर से पुनः तर्क के ही सहारे उन सब बातों का समाधान किया गया। यज्ञ की महत्ता, धार्मिक विषयों में वेदों का आधिपत्य आदि सभी बातों की स्थापना 'तर्क' और 'न्याय' के सहारे की गई। यह भी संघर्ष का ही फल था कि पूर्वमीमांसा की उन्नति भी यहाँ इस प्रकार हुई कि एक समय में पुष्करिणी याग के अवसर पर केवल आमंत्रित मीमांसकों की संख्या ही 1400 थी।

न्याय-मीमांसा शास्त्रों की उन्नति के प्रमाण इन शास्त्रों के ग्रंथों व इतिहासों से मिल जाते हैं। राहुल सांकृत्यायन जी के सदुद्योग से तिब्बत से लाए गए ग्रंथों के क्रमिक प्रकाशन और उनके अध्ययन से आस्तिक-नास्तिक विचारधाराओं का पता स्पष्ट मालूम हो जाता है कि पारस्परिक ईर्ष्या ने किस प्रकार बौद्ध तथा हिंदू न्यायशास्त्र (न्याय-वैशेषिक-मीमांसा) को उन्नत शिखर पर पहुँचाया।

हिंदू दर्शनशास्त्र में भले ही षड्दर्शन की मान्यता रही हो, परंतु मुख्य रूप से तीन ही दर्शन माने गए हैं—न्याय, मीमांसा और वेदांत। शेष सांख्य, योग और वैशेषिक तो किसी न किसी प्रकार से इन्हीं तीनों के उपकारक हैं। इसी हेतु मिथिला में मुख्य रूप से इन्हीं शास्त्रों पर काम हुए हैं।

मिथिला में वेदांतशास्त्र पर कम ही ग्रंथ लिखे गए हैं। इसका कारण यह है कि न्याय-मीमांसा शास्त्रों पर ही मुख्यतः वेदांतशास्त्र अवलंबित है। मूल की रक्षा करने पर ही शाखाएँ सुरक्षित रहा करती हैं। जड़ को ही सींचा जाता है, न कि पूरे पेड़ को। अतएव मैथिलों ने अपने अस्तित्व रक्षार्थ अध्यात्म-विद्या के मूलभूत न्याय-मीमांसा की रक्षा की। 15 वीं शताब्दी में भले ही शंकर-वाचस्पति-प्रगल्भ आदि ने शंकरभगवत्पाद के अद्वैत सिद्धांत का प्रत्याख्यान किया हो, पर 7 वीं शताब्दी में ब्रह्मसिद्धि के माध्यम से मंडन मिश्र ने मिथिला के अद्वैतवाद का ही प्रतिपादन किया है। यह भी सत्य है कि बौद्धों ने वैदिक धर्म पर आघात कर सनातन-धर्मावलम्बियों का प्रबल विरोध किया, तथापि इन शास्त्रों के विकास में उनके अप्रत्यक्ष उपकार को भुलाया नहीं जा सकता।

न्यायशास्त्र का वाद-विवाद से बहुत गहरा संबंध है। यदि बौद्ध, ब्राह्मण तथा दूसरे संप्रदायों का पूर्वकाल में आपस का वह विचार संघर्ष और शास्त्रार्थ न हुआ होता, तो भारतीय न्यायशास्त्र में निश्चय ही इतनी उन्नति न हुई होती। वाद या विचारों के शाब्दिक संघर्ष की प्रथा के आरंभ होते ही वादी-प्रतिवादी के भाषण आदि के नियम बनने लगते हैं। भारत में ऐसे शास्त्रों का उल्लेख सर्वप्रथम हम ब्राह्मण ग्रंथों के उपनिषद् भाग में पाते हैं।

वेद का संहिता भाग मंत्र और ऋचाओं के रूप में होने से, वहाँ भिन्न-भिन्न ऋषियों के विवादों का वैसा उल्लेख नहीं हो सकता था। तथापि वशिष्ठ और विश्वामित्र का आरंभिक विवाद ही इसका कारण हो सकता है, जो कि वशिष्ठ के वंशज, विश्वामित्र और उनकी संतान के बनाए ऋग्वेद के भाग को पढ़ना निषिद्ध समझते थे और वही बात विश्वामित्र के वंशज वशिष्ठ से संबंध रखने वाले मंत्रभाग के साथ करते थे। इससे प्रतीत होता है कि मंत्रकाल में उसकी क्रीड़ाभूमि सप्तसिंधु में भी पहले इसी प्रकार के वाद हुआ करते होंगे। उन वादों में भी कुछ नियम निर्धारित रहे होंगे, जिन्हें हम भारतीय न्याय या तर्कशास्त्र का बीज कह सकते हैं।

कालांतर में शताब्दियों तक आर्य लोगों में यज्ञ और कर्मकांडों की प्रधानता रही, युक्ति और तर्क की श्रुतियों के सामने उतनी न चलती थी। तब भी कुछ लोग स्वतंत्र विचार रखते ही थे, जिनका कर्मकांडियों के साथ विचार-संघर्ष होता था। इसी विचार-संघर्ष के प्रतिफलन हमें उपनिषदों के रूप में प्राप्त हुए। उपनिषद् काल में तो नियमानुसार परिषदें हुआ करती थीं, जहाँ बड़े-बड़े विद्वान् विवाद किया करते थे। इन परिषदों के संचालक वहाँ के राजा होते थे, जो विजेता को उपहार भी देते थे। विदेहराज जनक की परिषद् में जब याज्ञवल्क्य की विजय होती है तो जनक की ओर से उन्हें एक सहस्र स्वर्णशृंगयुक्त गौएँ दी जाती हैं।

वैदिक युग से चली आ रही यह वाद-प्रथा मिथिला में तब और भी उत्तुंग शिखर पर चली आई, जब दार्शनिक सूत्रों की रचना होने लगी। बौद्ध-न्यायशास्त्र के जन्म एवं विकास की भूमि यदि 'मगध' को कहा जा सकता है, तो ब्राह्मण-न्याय के बारे में यही श्रेय 'मिथिला' को प्राप्त है।

'वादन्याय' की टीका में आचार्य शांतरक्षित (740-840 ई.) ने वात्स्यायनभाष्य के टीकाकार के रूप में अविद्धकर्ण और प्रीतिचंद जैसे दो नैयायिकों के नाम उद्धृत करते हैं। ये दोनों ही ग्रंथकार वाचस्पति मिश्र से पहले के हैं, पर उद्धोतकर (भारद्वाज) के पश्चाद्वर्ती ही थे। इनकी जन्मभूमि के बारे में महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने प्रतिद्वंद्विता केंद्र नालंदा के होने से 'विदेह' को ही माना है। उन्हीं के अनुसार वाचस्पति मिश्र के बाद ब्राह्मण न्यायशास्त्र पर तो मिथिला का एकच्छत्र राज्य हो जाता है। वह अनिरुद्धाचार्य, श्रीवत्साचार्य, श्रीकर आचार्य, उदयनाचार्य, दुर्वेक मिश्र, शिवादित्य-वरदराज-शशधर-

मणिकंठ सहित केशव मिश्र, सोंढल उपाध्याय, चंद्र उपाध्याय, श्रीवल्लभाचार्य, तरणि मिश्र, वर्द्धमान जैसे प्राचीन न्याय के आचार्यों को पैदा करती है।

13 वीं शताब्दी में मिथिला गंगेश के रूप में एक ऐसे सपूत को जन्म देती है, जो नव्यन्याय की सृष्टि कर एक प्रकार से प्राचीन न्यायशास्त्र की पठन-प्रणाली को ही उठा देता है। उसके टीकाकारों में वर्द्धमान, वटेश्वर, यज्ञपति, पक्षधर, तन्त्वोपाध्याय, गंगादित्य, घटेश, वासुदेव मिश्र, रुचिदत्त मिश्र, गोकुलनाथ प्रभृति अन्यतम हुए हैं। इस तरह हम देखते हैं कि मिथिला प्राचीन न्याय और नव्यन्याय दोनों का केंद्र बन जाती है।

बौद्धधर्म के जनक भगवान् बुद्ध का समय ई.पू. 563 से ई.पू.483 तक माना जाता है। अपने 80 वर्ष के जीवन में उन्होंने जो भी उपदेश दिया, उनका संकलन पाली भाषा में लिपिबद्ध 'त्रिपिटक' के नाम से जाना जाता है । इसके अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उन दिनों मिथिला में 'तक्की' (तार्किक) और 'बीमंसी' (मीमांसक) लोगों का बड़ा जोर था। विचार-स्वातन्त्र्य भी ऐसा कि उसमें न राज्य की ओर से और न समाज की ओर से कोई अंकुश था। केवल पुरुष ही नहीं, स्त्रियाँ भी उन दिनों शास्त्रार्थ करने हेतु सदत उद्यत रहा करती थी। त्रिपिटक में कितने ही ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनमें बुद्ध से भी वाद करने की घटनाओं का उल्लेख प्राप्त है। कई सिंहनाद सूत्र तो इन्हीं वादों से संबंध रखते हैं।

आज-कल यद्यपि संपूर्ण देश में वह पुरानी स्थिति तमाच्छादित हो गई है, जो कि आज से सौ वर्ष पहले तक भी नव्यन्याय की दृष्टि से भारत में विद्यमान थी। नव्यन्याय की जन्मभूमि मिथिला रही हो अथवा विकासभूमि नवद्वीप (बंगाल), वहाँ भी भारत की उक्त स्थिति से भिन्न स्थिति नहीं है। काल प्रभाव से आज न्यायविद्या की हृदयस्थली-पीठस्थली मिथिला शिथिला हो गई है, सारस्वत मंदिर के वे रत्न-प्रदीप निर्वाणोन्मुख हो गए हैं, यह दुःख का विषय अंतर्मन को व्यथित कर देता है—

'वाग्देवता लोकललामभूता वीतादरा शोकशतैः प्रतप्ता।
क्लिष्टा तुषारैर्नलिनीव नूनं मुञ्चत्यजस्रं वत शोकजास्रम्।।'

परंतु यदि कोई ढंग का एक ही विद्वान् निकल आए तो नव्यन्याय की नैया को पार लगाने के लिए वही पर्याप्त होंगे। वही भूमि तैयार कर वटवृक्ष बनाएंगे। विद्वान् स्वयं संख्यावान् होते हैं, वे एक से अनेक हो सकते हैं, भवभूति का संबल तो उन्हें मिला ही है—

''उत्पत्स्यते हि मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।।''

13 वीं शताब्दी से लेकर 16 वी. शताब्दी तक मिथिला संस्कृत विद्या का एक प्रमुख केंद्र थी। भारत के भिन्न भिन्न भागों से, विशेषकर बंगाल से विद्या प्राप्त करने हेतु विद्यार्थी यहाँ आया करते थे। बंगाली विद्यार्थियों में सर्वप्रथम मिथिला आकर पढ़ने वाले वासुदेव सार्वभौम, जगन्नाथ न्यायरत्न आदि प्रमुख थे। कहते हैं सार्वभौम के शिष्य रघुनाथ शिरोमणि यहाँ पक्षधर मिश्र से शास्त्रार्थ करने के उद्देश्य से आए, पर उनसे विद्याग्रहण करके गए। जगन्नाथ शिक्षा प्राप्ति के बाद यहाँ से जाते समय यहाँ की एक सुकन्या से विवाह करके गए, जिससे चैतन्य महाप्रभु अवतरित हुए। 16 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से मिथिला में नव्यन्याय का ह्रास होना परिलक्षित होता है। नए-नए ग्रंथों व व्याख्याओं का सृजन अवरुद्ध-सा दिखता है।

भारतीय जनमानस वेद को अपौरुषेय और अनादि मानता है, जिसमें चार वेदों के अतिरिक्त छः अंग, चार उपांग एवं चार उपवेदों को मिलाकर कुल अष्टादश विद्याएँ शामिल की जाती हैं। इन्हीं विद्याओं में न्याय और मीमांसा जैसे दो दर्शन भी हैं। गंगेश इन दोनों दर्शनों के पारगामी विद्वान् थे। वैसे उनकी प्रसवा 'मिथिला' षड् आस्तिक दर्शनों में से चार की जननी होने पर भी इन्हीं दोनों दर्शनों को अपनी प्रतिभा-प्रखरता और ज्ञान-रश्मि से आलोकित, अवलोकित और प्रदर्शित करती आई है।

मिथिला वैदिककाल से ही दार्शनिक भूमि रही है, उपनिषदों में भी यहाँ दर्शनविद्या का प्रकाश होने की बात कही गई है, रामायण-महाभारत भी मिथिला के दार्शनिक साक्ष्यों से भरपूर हैं—ऐसे में यह बता पाना कठिन है कि मिथिला में दर्शन का विकास कब से या कैसे हुआ। प्रस्तुत विनिबंध में उस विषय की अनुपयोगिता भी है।

यह सर्वथा सत्य है कि वैदिक और बौद्धों के परस्पर संघर्ष, आक्षेप-प्रत्याक्षेपों, तर्क-वितर्कों व आपसी प्रतिद्वंद्विता भावों से न्यायशास्त्र की जो उन्नति मिथिला में हुई, वह अन्यत्र नहीं। इसी कारण प्रायः महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने लिखा होगा—"वाचस्पति मिश्र के बाद तो ब्राह्मण न्यायशास्त्र पर तिरहुत का एकछत्र राज्य हो जाता है।" डॉ. उमेश मिश्र का यह कहना भी अक्षरशः सही है कि "भारतवर्ष में प्रायः बिहार ही एक ऐसा प्रदेश है, जिसे ऋग्वेद के काल से लेकर अद्यपर्यंत अविच्छिन्न रूप में धार्मिक तथा आध्यात्मिक विचारों की रक्षा करने का गौरव प्राप्त है।"

4

प्राग्-गंगेश मैथिल नैयायिक

यद्यपि मिथिला में प्राग्-गंगेश असंख्य दार्शनिक हुए हैं, जिनमें केवल नैयायिक ही गणनातीत हैं। परंतु यहाँ उन सभी नैयायिकों का परिचय प्रस्तुत करना न तो उद्देश्य है और न ही उसकी उपयोगिता, प्रासंगिकता। परंतु जिन लोगों को गंगेश ने अपने ग्रंथ में उद्धृत किया है या जिनके ग्रंथों से उन्होंने उद्धरण ग्रहण किया है, अपनी मान्यताओं और सिद्धांतों की पुष्टि के लिए जिनका खंडन-मंडन किया है अथवा जिनके ग्रंथों, सिद्धांतों से वे कहीं न कहीं प्रभावित हुए, ऐसे ही निविष्ट नैयायिकों का यहाँ संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है, ताकि जिज्ञासु यह जान सकें कि हमारे गंगेश को किन-किन विद्वानों ने, कैसे-कैसे नैयायिकों ने अपने व्यक्तित्व-कृतित्व एवं सिद्धांतों-व्यवहारों से प्रभावित किया है। ऐसे ही नैयायिकों में परिगणनीय हैं—

1. विश्वरूपमिश्र

आगमडंबर नाटक में जयंतभट्ट, तार्किकरक्षा में वरदराज, तात्पर्य-विवरणपंजिका में अनिरुद्धाचार्य, न्यायविनिश्चयविवरण में वादिराज प्रभृति विद्वानों के द्वारा चर्चित विश्वरूपमिश्र न्यायभाष्य के अन्यतम व्याख्याकार हैं। इनकी इस व्याख्या पर चक्रधर के गुरु शशांकधर ने टीका लिखी थी। इनका समय 750-850 ई. के मध्य माना जाता है। ये याज्ञवल्क्यस्मृति के व्याख्याता और कुमारिलभट्ट के शिष्य विश्वरूप से भिन्न नहीं हैं। कुछ समीक्षकों के अनुसार आदि शंकराचार्य से शास्त्रार्थकर पराजित होकर 'सुरेश्वराचार्य' नाम धारण करने वाले ये ही थे, न कि मंडन।

2. त्रिलोचनाचार्य

ईसा के नवम शताब्दी पूर्वार्द्ध में हुए त्रिलोचनाचार्य ने गौतमीय न्यायसूत्र पर न्यायमंजरी नामक एक व्याख्यान लिखा था, जिसका उल्लेख न्यायकणिकाकार वृद्धवाचस्पतिने

किया है। यद्यपि त्रिलोचन जैसे महामनीषी को परिशुद्धिकार उदयन, न्याय निबंध प्रकाश में वर्द्धमान, तार्किकरक्षा-सारसंग्रह में वरदराज सहित ज्ञानश्रीमित्र, राघवभट्ट, दुर्वेकमिश्र, अनिरुद्धाचार्य प्रभृति विद्वानों ने उद्धृत जरूर किया है, पर इनकी कोई भी रचना उपलब्ध नहीं होती । प्रभाकार यज्ञपति उपाध्याय के पूर्वज त्रिलोचन तात्पर्याचार्य वाचस्पतिके गुरु थे। ये कुमारिल भट्ट के वंशज और मांडरमूलक काश्यपगोत्रीय विजयभट्ट के पुत्र थे।

3. वाचस्पति मिश्र

भारतीय दर्शनों में अद्भुत प्रतिभा बिखेरनेवाले अप्रतिहत गतिशील वाचस्पति, तात्पर्याचार्य और भामतीकार के रूप में भी जाने जाते हैं। इन्हीं के न्याय सूची निबंध से इनका काल अष्टम-नवम शताब्दी का मध्य भाग माना गया है। वाचस्पति किसी 'नृग' नामक राजा के आश्रित थे—ऐसा भामती की पुष्पिका से विदित होता है। भामती और तात्पर्यटीकाओं के अतिरिक्त इनकी रचनाओं में सांख्यतत्त्वकौमुदी, तत्त्ववैशारदी, ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा, न्यायकणिका, तत्त्वबिंदु आदि मुख्य हैं। इन्होंने न केवल भारतीय दर्शन को बहुमूल्य रचनाएँ दी हैं, बल्कि कई नवीनतत्त्व भी प्रदान किए हैं, जो कि इनसे पूर्व स्पष्ट रूप में उपलब्ध नहीं थे। जैसे प्रत्यक्ष के सविकल्पक-निर्विकल्पक भेद, उपाधि का सिद्धांत और ख्याति-पञ्चकका निरूपण मुख्य हैं।

4. अनिरुद्धाचार्य

नवम-दशम शताब्दी के मध्य स्थित रहनेवाले अनिरुद्धाचार्य ने भाष्य-वार्तिक और तात्पर्यटीका को मिलाकर 'विवरण पंजिका' नामक ग्रंथ की रचना की। आचार्य उदयन के मत में इनकी वाणी बहुत ही कठिन होती है और बिना गंभीर ज्ञान से उसका अर्थ अवगम नहीं होता। पाँच अध्याय तक इनका यह ग्रंथ भारतीय मातृकागारों में सुरक्षित है।

5. श्रीवत्साचार्य

इनका समय दशम शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना गया है। ये कुछ लोगों के मत में उदयनाचार्य के गुरु थे, पर कुछ लोग इस आधार पर उसका खंडन करते हैं कि उदयन ने परिशुद्धि में इनके मतों का प्रत्याख्यान किया है । इनकी प्रशस्तपादभाष्य-टीका का उल्लेख जैनाचार्य राजशेखर ने अपनी न्यायकंदली पंजिका में किया है। इनकी टीका का नाम लीलावती है, जो वल्लभाचार्य की न्यायलीलावती से भिन्न है।

6. न्यायभास्करकार

दशम शताब्दी-उत्तरार्द्ध में अवस्थित किसी अज्ञात विद्वान् ने न्यायभास्कर की रचना की थी। न्यायभास्करकार का उदयनाचार्य के साथ सैद्धांतिक मतभेद था, यह परवर्ती ग्रंथों से पता चलता है। परवर्ती लेखकों के द्वारा इनके उल्लेख से प्रतीत होता है कि न केवल भास्करकार असाधारण विद्वान् थे, प्रत्युत् उन दिनों यह वृत्ति भी खूब प्रसिद्ध और प्रचलित थी। दुर्भाग्य है कि आज यह उपलब्ध नहीं है।

7. श्रीकर आचार्य

दशम शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्थित रहे श्रीकर आचार्य अपने समय के मूर्धन्य नैयायिक ही नहीं, अपितु मीमांसक और धर्मशास्त्री भी थे। न्याय-मीमांसा और धर्मशास्त्र के परवर्ती अनेकों ग्रंथ में श्रीकर के मतों की आलोचना हुई है। किसी ने इनके मतों का समर्थन तो किसी ने खंडन किया है। रामसिंहदेव (13 वीं शताब्दी) के सभासद रहे अमरकोषव्याख्यामृत के रचयिता श्रीकर आचार्य से आप भिन्न और प्राचीन हैं।

8. शिवादित्य मिश्र

वैशेषिक दर्शन में वर्णित छः पदार्थों के साथ सप्तम 'अभाव' को जोड़कर इस दर्शन में इन्होंने एक क्रांतिकारी परिवर्त्तन किया। अन्य सिद्धांतों के प्रवर्त्तन में भी इनका (10-11 शताब्दी) मौलिक विचार विशेष स्थान वहन करता है। न्याय-वैशेषिक के आठ हेत्वाभासों के स्थान पर इन्होंने छः हेत्वाभास और प्रशस्तपाद की दश-दिशाओं के बदले ग्यारह दिशा माना है। इनके ग्रंथ का नाम 'सप्तपदार्थी' है।

9. उदयनाचार्य

न्याय-वैशेषिक दर्शनों के मर्मज्ञ उदयन प्राचीन और नवीन युगों की संधि पर विराजमान हैं। इनके समान शायद ही कोई दूसरा आचार्य होगा, जिन्होंने इतने अधिक ग्रंथों की रचना की हो। कुसुमांजलि, किरणावली, लक्षणावली, परिशुद्धि, प्रबोधसिद्धि, आत्मतत्त्वविवेक आदि दशाधिक ग्रंथों के रचयिता उदयन बौद्धों के प्रबल प्रतिद्वन्द्वी थे। अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी इन्होंने वेद की रक्षा की है। साथ ही कहा जाता है कि एक बार तो इन्होंने पुरी में भगवान् जगन्नाथको भी 'ईश्वराभिमानी' कह दिया था। जो भी हो उदयन न्यायविद्या के मूर्धन्य स्तंभ हैं। इनका समय दशम शताब्दी निर्धारित है।

10. वरदराज मिश्र

ग्यारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में विद्यमान वरदराज ने 'तार्किकरक्षा' की रचना की थी। कुसुमांजलि की 'बोधिनी' व्याख्या और भवनाथकृत नयविवेक की दीपिका व्याख्या

भी इनकी कही जाती है। परंतु तार्किकरक्षा से परवर्ती विद्वान् बहुत प्रभावित रहे हैं, जिस पर लगभग दशाधिक टीकाएँ हुई हैं ।

11. दुर्वेक मिश्र

जितारि और अतीश के शिष्य दुर्वेक मिश्र का समय ग्यारहवीं शताब्दी कहा जाता है। इनका 'धर्मोत्तरप्रदीप' और 'अर्चटालोक' संस्कृत साहित्य की निधि हैं। इनसे परवर्ती विद्वानों ने कई स्थलों पर उद्धरण ग्रहण किया है।

12. रवीश्वर उपाध्याय

गंगेश ने इनके मत को यद्यपि 'अपरे तु' कहकर उद्धृत किया है, पर प्रगल्भ मिश्र एवं शेष अनंताचार्य के द्वारा उस स्थल को इन्हीं का बनाया गया है। 12 वीं शती में स्थित रवीश्वर की किसी रचना का पता नहीं चलता।

13. शशधर उपाध्याय

मणिधर उपाध्याय के अनुज शशधर (12 वी. शताब्दी) न्यायसिद्धांतदीप, न्यायमीमांसाप्रकरण, न्यायनय और शशधरमाला के रचयिता हैं। अपने समय में ये दोनों भाई 'सिंह-व्याघ्र' कहलाते थे, कारण उन दिनों इनकी प्रतिभा और योग्यता से सब जलते और डरते थे। व्याप्ति के जिस सिंह-व्याघ्र लक्षण से विद्वत्समाज परिचित है, वह इन्हीं दोनों भाइयों की देन है। रामाभ्युदय में उदयप्रभ नामक विद्वान् ने कहा है—

"बाल्येऽपि निर्दलित-वादिगजौ जगाद।
यौ व्याघ्रसिंहशिशुकाविति सिद्धराजः ।।"

14. सोंण्ढल उपाध्याय

बारहवीं शताब्दी के सोंदल, सोंडल या सोण्ढल उपाध्याय का यद्यपि कोई भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता, पर परवर्ती रचनाओं से उनके वैदुष्य व ख्याति का अनुमान लगाया जा सकता है। कइयों ने तो उन्हें 'नव्याः' 'नवीनाः' कहकर उद्धृत किया है, जिसका स्पष्टीकरण मणिकंठ, गदाधर, मथुरानाथ आदि की रचनाओं से हो जाता है। व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता के अभाव का चिंतन सोण्ढल की निजी देन कही जाती है।

15. चंद्र उपाध्याय

नयरत्नाकर, अमृतबिंदु आदि के प्रणेता चंद्र उपाध्याय पोशाली वंश के मैथिल थे। परवर्ती अनेकों नैयायिकों ने इनको उद्धृत किया है। न्यायसूत्र पर भाष्यचंद्र का कर्त्ता इन्हीं का पुत्र था।

16. दिवाकर उपाध्याय

बारहवीं शताब्दी में स्थित रहे दिवाकर किरणावली 'बहुला' के कर्त्ता दिवाकर से भिन्न किंतु परिशुद्धि की उद्योत टीकाकार से अभिन्न हैं। कुसुमांजलि पर 'परिमल', किरणावली पर 'विलास' और खंडनखंडखाद्य पर टीका भी इनकी कही जाती है। गंगेश, वर्द्धमान, वाचस्पति द्वितीय आदि के द्वारा चर्चित दिवाकर वासुदेव के पुत्र थे।

17. प्रभाकर उपाध्याय

उपर्युक्त दिवाकर के अनुज पंजीप्रबंध में 'जगद्गुरु प्रभाकर' कहे गए हैं। न्यायनिबंधपरिशुद्धि, कुसुमांजलि, न्यायलीलावती आदि पर इनकी व्याख्या कही जाती है। परवर्ती नैयायिकों के द्वारा उद्धृत होने से इनके वैदुष्य और महत्व को आँका जा सकता है।

18. तरणि मिश्र

इनकी प्रसिद्धि रत्नकोषकार के रूप में है, पर वह ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। संभव है 'रत्नकोष' न्यायसूत्र की वृत्ति रही हो। इनकी प्रतिष्ठा केवल न्याय में ही नहीं थी, बल्कि वैशेषिक दर्शन में भी इनके सिद्धांतों का मान था। रत्नकोष के अभाव में इनके सिद्धांतों को हरिराम तर्कवागीशकृत 'रत्नकोषविचारः' ग्रंथ के अवलोकन से देखा जा सकता है।

19. श्रीवल्लभाचार्य

12 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में समुत्पन्न श्रीवल्लभाचार्य, शुद्धाद्वैतमत प्रवर्त्तक वल्लभाचार्य से भिन्न हैं। वैशेषिक दर्शन में 'न्यायलीलावती' नामक इनका स्वतंत्र ग्रंथ है, जो श्रीवत्साचार्य की प्रशस्तपादभाष्यव्याख्या लीलावती से भिन्न है। इन्होंने छः ही पदार्थ माना है। न्यायलीलावती पर वर्द्धमान, पक्षधर, शंकर, वाचस्पति द्वितीय, रघुनाथ शिरोमणि, मथुरानाथ आदि की व्याख्या संपत्तियों को देखने से यह प्रतीत होता है कि न्याय और वैशेषिक दोनों ही दर्शन के आचार्यों ने इस ग्रंथ को महत्त्वपूर्ण माना है।

20. केशव मिश्र

'तर्कभाषा' न केवल लोकप्रिय ग्रंथ है, अपितु चिरकाल से पठन-पाठन में भी विद्यमान रही है। विपुल व्याख्या-संपदा संपन्न इस लक्षण ग्रंथ में प्राचीन न्याय के सभी स्वीकृत पदार्थों का विवेचन किया गया है। इनकी दूसरी रचना 'तारभाष्य' है। ये तर्कतांडव-संख्यापरिणाम-गौतमीयसूत्रप्रकाश-अलंकारशेखर आदि के रचयिता केशव मिश्र से

तथा आत्मतत्त्वविवेक टीकाकार केशव मिश्र से भिन्न हैं। इनका समय 12 वीं शताब्दी निर्धारित है।

21. मिथिलावृत्तिकार

वैशेषिकसूत्र पर लिखी गई इस वृत्ति के रचयिता अज्ञात हैं। यह वृत्ति मिथिला में पाई जाती है, अतः इसको 'मिथिलावृत्ति' कहा गया है। संभव है इसकी रचना बारहवीं शताब्दी के मध्यभाग (1158-1178 ई.) में हुई हो।

22. मणिकंठ मिश्र

मणिमिश्र उपनामक मणिकंठ मिश्र का समय 13 वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध निश्चित होता है। ये स्वयं को किसी मिथिलेश के धर्माधिकरणिक बतलाते हैं, पर उनका नाम कहीं स्पष्ट नहीं करते। वाचस्पति द्वितीय और नृसिंहयज्वा जैसे विद्वान् इनके 'न्यायरत्न' ग्रंथ के टीकाकार हैं। द्युतिमालिका (नृसिंहयज्वा) टीका के साथ मूलग्रंथ मद्रास से प्रकाशित है।

23. हरिनाथ उपाध्याय

हरिनाथ यद्यपि मूलतः धर्मशास्त्री थे, पर उनका न्यायदर्शन में भी अच्छा प्रवेश था। ये गंगेश के वृद्ध समसामयिक थे—ऐसी संभावना व्यक्त की जा रही है। शतघरा ग्रामवासी हरिनाथ स्मृतिसार के कर्त्ता और राजा हरिसिंहदेव के समकालीन थे।

24. श्रीकंठाचार्य

न्यायालंकारटिप्पणक के रचयिता श्रीकंठ उपाध्याय या श्रीकंठाचार्य का समय खृष्टाब्द त्रयोदश शतक माना जाता है। इनके ग्रंथ में न्यायशास्त्रीय पंच प्रस्थानों (सूत्र-भाष्य-वार्तिक-तात्पर्यटीका और परिशुद्धि) के गूढाशय को प्रकाशित किया गया है। परंतु इनके इस अपूर्ण ग्रंथ को पूरा किया है लक्ष्मीतिलक जिनेश्वर के शिष्य अभयतिलकाचार्य ने। इनके इस ग्रंथका नाम 'न्यायालंकार' है, जो 'पंचप्रस्थानन्याय टीका' के नाम से भी जाना जाता है।

5

ऐतिहासिक परिवेश

मध्यकालीन मिथिला का इतिहास कई रोचक और विशिष्ट घटनाओं से भरा-पूरा रहा है। उस समय यदि एक ओर राजनीतिक क्रिया-कलाप उथल-पुथल भरा था तो दूसरी ओर विशिष्ट कृतीयों की कृतियों से भरपूर भी।

हमारे चरितनायक गंगेश उपाध्याय के जन्म से पहले ही मिथिला में परिवर्तनकारी, क्रांति-सूचक राजनीतिक घटनाओं का घटित होना प्रारंभ हो गया था। लखनावती के नौवें मल्लिक इज्जउद्दीन तुघरोल (1233-1244 ई.) को अपने राज्य में विद्रोहशील प्रजाओं के उपद्रवों का शमन करना पड़ता था, घरेलू झंझट से उसे अवकाश ही नहीं मिलता था। फलतः मिथिला पर वह शासन तो स्थापित नहीं कर पाया, पर इसे भरपूर लूटा[1] अवश्य। हिजरी सं. 697 (1277 ई.) में शेख मोहम्मद इस्माइल के नेतृत्व में मुसलमानों ने मिथिला पर चढ़ाई कर मिथिलेश शक्तिसिंह को पराजित कर दिया, उन्हें बंदी बना लिया गया। पीछे कारा-मुक्त कर बादशाह दिल्ली-सल्तनत ने अपने हिंदू सैनिकों का उसे सेनापति बना दिया। इसके बाद ही रणथम्भौर की लड़ाई हुई थी[2]।

कर्णाटवंशीय राजा नरसिंहदेव के पुत्र और उत्तराधिकारी रामसिंहदेव का राज्यतिलक सन् 1225 ई. में पिता की मृत्यु के बाद हुआ था। परंतु म.म.परमेश्वर झा के अनुसार रामसिंहदेव का शासन काल 1191 ई. से लेकर 1283 ई. तक, कुल 92 वर्षों का रहा। यह विचार जहाँ चिन्त्य है, वहीं इतिहासकार डॉ. उपेंद्र ठाकुर ने उनका राज्यकाल 1225-1275 ई. बताया है[3]। इनके मत में कर्मादित्य ठाकुर उनके सांधिविग्रहिक और मंत्री थे। वह 51 वर्षों तक शासन करने के बाद 1275 ई. में दिवंगत हुआ। वह मध्यम पांडव के समान पराक्रमी और शौर्यशाली वीरपुंगव था, जिस कारण इतिहास से उसके दो विशिष्ट विरुदों का पता चलता है। एक 'भुजबलभीम' का और दूसरा 'भीमपराक्रम'[4] का। परंतु वह विद्वान् भी था और विद्वानों का आदर करने वाला शासक भी। यही कारण था कि संस्कृत के बड़े-बड़े विद्वान उनके दरबार में आश्रय प्राप्त किया करते

थे, सुशोभित हुआ करते थे। उनके शासन काल में अनेक साहित्यिक ग्रंथों का ही नहीं धार्मिक वैदिक ग्रंथों का भी सृजन हुआ। संस्कृत के उत्कृष्ट ग्रंथों पर भाष्य-व्याख्यानों का प्रणयन इस काल का उल्लेखनीय योगदान रहा है। प्रबुद्ध जनता को बौद्धिक विकास का अवसर दिया जाता था, दर्शन शास्त्र का चतुर्दिक प्रचार और सम्मान था।

राजा रामसिंह देव के समय 1234 ई. में तिब्बत का एक पर्यटक चग-लो-त्स-व (धर्मस्वामिन्) नेपाल के रास्ते तिरहुत आया था, उसने अपने यात्रा-विवरण में यहाँ की सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों का भरपूर वर्णन किया है। इसके अनुसार मिथिला के पश्चिमी भाग में, विशेषकर 'टो-कि' (आज का तुर्की) के आस-पास जैन एवं बौद्धधर्म के अनुयायी पाए जाते थे, पर उनका सामाजिक स्तर बहुत कमजोर था। परंतु अहिंसा और सदाचार में उनकी राय प्रमुख मानी जाती थी। पूरे तिरहुत में संस्कृत विद्या की जोड़ थी, वेदाध्ययन की परंपरा होने पर भी चारों ओर गौतमीविद्या और मीमांसा का प्रचार था, काव्य और धर्मशास्त्र में लोगों की पकड़ थी[5]।

वस्तुतः मिथिला में नैषध के टीकाकार भवदत्त, सुगतिसोपान के कर्त्ता गणेश्वर पंडित, काव्य प्रकाश के विवेकटीकाकार श्रीधरठक्कुर, मृच्छकटिक व्याख्याकार पृथ्वीधर आचार्य, सरस्वतीकंठाभरण के व्याख्याकार रत्नेश्वर मिश्र प्रभृति प्रतिभावान् विद्वान् इसी समय अपने देश-प्रदेश के मान को बढ़ा रहे थे। यदि नव्यन्याय का उद्भव इन दिनों हुआ होता तो निश्चय ही तिब्बती यात्री धर्मस्वामिन् उसका अथवा उसके जनक गंगेश का भी उल्लेख किए होते। जबकि वे गंगेश के गाँव 'छाजन' के पार्श्ववर्ती 'तुर्की' का उल्लेख 'टो-कि' के रूप में करते हैं।

रामसिंह देव के देहावसान के बाद उनके पुत्र शक्तिसिंह देव (शक्रसिंहदेव) शासनारूढ़ हुए। पराक्रम व रणकौशल में इंद्र के समान होने के कारण ही उसे 'शक्रसिंह' कहा जाता था, पर उसका मूल नाम शक्तिसिंह देव ही था। वह दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन खिलजी का मित्र था, पर दोनों में एक समय वैमनस्य भी हो गया था। पृथ्वीराज के वंशज रणथम्भौर के राजा हम्मीर देव के साथ सुल्तान की हुई लड़ाई में इसने अपने मंत्री देवादित्य और उसके पुत्र वीरेश्वर के साथ सुल्तान की सहायता की थी। इसी संग्राम में हम्मीरदेव को वीरगति प्राप्त हुई थी। चंडेश्वर कृत कृत्यचिंतामणि में 'हम्मीरध्वांतभानुः निखिलनिजगुणस्तोषयामास विश्वम्' वाला पद आया हुआ है। साथ ही पुरुषपरीक्षा (विद्यापति) और कुवलयानंद (अप्पयदीक्षित) में भी इस घटना का उल्लेख देखा जा सकता है। शक्तिसिंह अपने पिता के विपरीत स्वभाव का था, यह कठोर और निरंकुश शासक था, स्वेच्छाचारी और निर्दय था। कल्याणकारी कार्य और प्रजा की भलाई पर इसका ध्यान कभी नहीं रहा। बावजूद इसके, वह प्रतापी और पराक्रमी जरूर था। देवादित्य के बाद वीरेश्वर और वीरेश्वर के बाद चंडेश्वर इसके

मंत्री बने थे। इन्हीं मंत्रियों की सूझ-बूझ और कौशल से राजा को नियंत्रित करने के लिए एक मंत्रिपरिषद् का गठन किया गया था, जिससे रक्तहीन क्रांति के माध्यम से प्रजा का हितसाधन भी संभव हो सका। 1303 ई. में शक्तिसिंह का देहांत हो गया। परंतु पं.परमेश्वर झा के मत में शक्तिसिंह का शासनकाल 1283 से 1292 ई. था और उसने बारह वर्षों तक राज्य किया था।

1303 में मात्र 9 वर्ष की अल्पायु में हरिसिंहदेव, शक्तिसिंह का उत्तराधिकारी बना[6]। यद्यपि इसका जीवन संघर्षमय ही रहा, फिर भी महान् समाज सुधारक के रूप में वह आज भी स्मरण किया जाता है। चंडेश्वर जैसा अप्रतिम प्रतिभाशाली तथा चतुर मंत्री उसे मिला था, जिसकी सहायता और तत्परता से राज्य चलता था। हरिसिंहदेव तेजस्वी, यशस्वी और वीर तो था ही, बल्कि अपने वंश का सर्वाधिक प्रसिद्ध राजा भी था। अपने राज्य में कुलीन प्रथा का श्रीगणेश करने वाला, ब्राह्मण एवं कायस्थों के लिए पंजीप्रबंध का निर्माण करवाने वाला समाज-सुधारक भी था। इसी कारण उस प्रथा को आज भी 'हरिसिंहदेवीय जाति-प्रथा' या 'हरिसिंहदेवीय पंजीव्यवस्था' के नाम से जाना जाता है। मिथिला में ब्राह्मणों का वर्ग-विभाजन (श्रोत्रिय-योग्य-भलमानुस और जयवार) भी हरिसिंहदेव की ही देन है। इसने अनेक मंदिरों व जलाशयों का निर्माण भी करवाया। हरिसिंहदेव विद्वानों के लिए विक्रमादित्य से कम नहीं था। गोभिलगृह्यसूत्रानुसारिणी छंदोगपद्धतिकार वीरेश्वर ठाकुर, उन्हीं के अनुज और विद्यापति के प्रपितामह धीरेश्वर ठाकुर (छंदोगपद्धति नामक दूसरी कृति का कर्त्ता), आह्निकोद्धारकार गणेश्वर ठाकुर, सुगतसोपानकार भवशर्म प्रतिहस्त, वाजसनेयि संस्कारपद्धतिकार रामदत्त ठाकुर, सप्तरत्नाकरकार चंडेश्वर ठाकुर आदि उन्हीं के दरबार की विभूति थे।

समृद्धिशाली मिथिला को हड़पने के लिए मुसलमानों की दृष्टि राजा शक्तिसिंहदेव के ही समय से लगी हुई थी, पर उन्हें उपयुक्त अवसर की तलाश थी। 1324 ई. में बादशाह गयासुद्दीन तुगलक ने जब बंगाल पर आक्रमण किया तो वापसी में उसने तिरहुत पर भी चढ़ाई करता गया, पर उसमें उसको मुँह की खानी पड़ी थी। दानरत्नाकर में चंडेश्वर ने हरिसिंहदेव का वर्णन म्लेच्छों से मुक्त करनेवाले के रूप में किया है तथा धूर्त्तसमागम में ज्योतिरीश्वर ने उसे सुरत्राण (सुलतान) विजेता कहा है। परंतु दो साल बाद सन् 1326 ई. में तुगलक सफल हो गया। उसकी प्रबल सेना से लड़ते हुए हरिसिंहदेव बाद में उत्तरी पहाड़ी की ओर चले गए—

''वस्वब्धि बाहुशशिसम्मितशाकवर्षे
पौषस्य शुक्ल दशमी क्षितिसूनुवारे।
त्यक्त्वा सुपट्टनपुरीं हरिसिंहदेवो
दुर्दैवदर्शित पथो गिरिमाविवेश।।''

ऐतिहासिक तत्त्वों के महान् गवेषक डॉ.के.पी.जायसवाल के लेखों[7] से यह विदित होता है कि अलाउद्दीन खिलजी का आधिपत्य नेपाल के कुछ भागों पर भी था। हरिसिंहदेव वहाँ जाकर असावधान मुस्लिम शासक को पराभूत कर मिथिला की हार का नेपाल-विजय के रूप में परिशोध किए। इतिहास साक्षी है कि नेपाल में भी हरिसिंहदेव का शासन उनके प्रपौत्र तक कायम था। इन्होंने भटगाँव को अपनी राजधानी बनाई। हरिसिंहदेव ने नेपाल में भी स्वतंत्र अधिकार के साथ शासन किया था, इसका अनुमोदन काठमांडु-उत्कीर्ण-अभिलेख से भी हो जाता है, जिसमें अंकित है—

''जातः श्रीहरिसिंहदेवनृपतिः प्रौढप्रतापोदयः
तद्वंशे विमले महारिपुहरे गाम्भीर्यरत्नाकरः।
कर्त्ता यः सरसामुपेत्य मिथिलां संलक्ष्य लक्षप्रियो
नेपाले पुनराढ्यवैभवयुते स्थैर्यः चिरं विद्यते।।''

इधर हरिसिंहदेव के चले जाने के बाद बादशाह तुगलक मिथिला का राज्यभार मल्लिक तुवलिघा के पुत्र अहमद खाँ को सौंप कर स्वयं दिल्ली लौट गया। 1344 ई. में सुलतान फिरोजशाह तुगलक ने मिथिला का राज्य अहमद खाँ से लेकर हरिसिंहदेव के मंत्री ओइनिवारवंशीय ब्राह्मण कामेश्वर झा को दे दिया।

कुछ दिनों बाद बंगाल के शासक शमसुद्दीन के विद्रोह से बादशाह तुगलक ने बंगाल पर आक्रमण किया। इस क्रम में वह गोरखपुर, खरोस, तिरहुत होकर आ रहा था। खरोस (संभवतः चंपारण) राज्य की पश्चिमी और पूर्व सीमा पर ही उसको बंगाल की सेना से लोहा लेना पड़ा था। शमसुद्दीन, जिसका हाजी इलियास भी नाम था, ने उक्त सीमा पर अपने नाम से 'हाजीपुर' छावनी बना रखा था, जिसके पूरब का क्षेत्र तिरहुत के अधीन था[8]। यही वह क्षेत्र था, जिसका उल्लेख तिब्बती पर्यटक धर्मस्वामिन् ने अपने यात्रावृत्तांत में 'टो-कि' करके किया है। डॉ.शर्मा के अनुसार[9] ''हाजी इलियास ने मिथिला पर अपना आधिपत्य स्थापित कर उसे दो भागों में बाँट दिया। दोनों विभागों के मध्य की सीमा बूढ़ी गंडक की धारा निश्चित की गई थी। कामेश्वर ठाकुर (झा) ने इस प्रकार के विभाजन का विरोध किया, पर उसकी वहाँ कुछ नहीं चली। फिरोजशाह ने हाजी इलियास को परास्त कर मिथिला के उक्त विभाजन को समाप्त कर दिया। उसने कामेश्वर-पुत्र भोगीश्वर (ठाकुर) को अपने अधीन करद-भूप बनाकर अखंड मिथिला राज्य का उसे स्वामी बनाया।''

यह घटना चूँकि 1354 ई. की थी, अतः भोगीश्वर ठाकुर उसी समय मिथिला के राजा बने । ये बादशाह फिरोजशाह के मित्र थे और इन्होंने 1360 (किसी के अनुसार 1370 ई.) तक मिथिला पर शासन किया। पर इसके काल में कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ।

भोगीश्वर के देहांत के बाद उत्तराधिकार को लेकर इनके अनुज भवेश्वर सिंह (भवसिंह या भवेश सिंह) एवं पुत्र गणेश्वर सिंह में विवाद हुआ। सभासद भी दो दलों में विभक्त हो गए। परंतु दोनों में हुई संधि के आधार पर मिथिला को दो बराबर हिस्सों में बाँट दिया गया। एक भाग पर भवसिंह राजा बने और दूसरे पर गणेश्वर[10]। दोनों अपने-अपने हिस्सों के राज्य पर 1360 में गद्दी पर बैठे। परंतु दुर्भाग्य गणेश्वर का, कि एक ही वर्ष बाद 1361 ई. में उनकी हत्या हो गई। प्रो.ठाकुर के मत में हत्या भवसिंह के पुत्रों ने करवायी थी[11], पर कहीं-कहीं दूसरा कारण भी बताया गया है। कहीं-कहीं गणेश्वर का शासनकाल 1360-1371 ई. कहा जाता है[12]। गणेश्वर की हत्या के बाद 1401 ई. तक उनके पुत्रों की विस्थापित प्रवासी राज्य अंतरिम सरकार के रूप में राज्य के किसी भाग में अनौपचारिक रूप से शासन करती थी। फिर 1401 या 02 में गणेश्वर का पुत्र कीर्त्तिसिंह उस गद्दी पर आसीन हुआ। उसने सन् 1410 ई. तक शासन किया[13]।

कीर्त्तिसिंह का आरंभिक जीवन बड़ा ही उथल-पुथल भरा रहा। जिसका वर्णन महाकवि विद्यापति ने अपनी कीर्त्तिलता में किया है। उसके शासनकाल में साहित्यिक सृजन में तो आशातीत वृद्धि हुई, पर राजनीतिक क्रिया-कलापों का प्रायः अभाव ही रहा। इनके ही समय में विद्यापति और वाणीभूषणकार दामोदर मिश्र विद्यमान थे[14]। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि कीर्त्तिसिंह जौनपुर के शर्कीनबाब इब्राहिमशाह के समसामयिक थे।

कीर्त्तिसिंह का एक भाई पहले ही एक संग्राम में मारे जा चुके थे, दूसरे भाई भी इन्हीं के समान निःसंतति थे। फलतः कीर्त्तिसिंह की मृत्यु के बाद यह राज्य, भवसिंह द्वारा शासित राज्य में मिल गया और मिथिला फिर एक हो गई। मिथिला के अखंड होने के कुछ ही दिनों बाद कामेश्वर ठाकुर के द्वितीय पुत्र और कीर्त्तिसिंह के पितामहभ्राता भवसिंह भी अति वृद्ध होकर इस संसार से चल बसे।

राजा भवसिंह की प्रसिद्धि उसके 'भवेश' उपनाम से थी। अतएव विभागसार में विद्यापति, विवादचंद्र में मिसरू मिश्र, गंगाकृत्यविवेक में वर्धमान उपाध्याय आदि ने इसी 'भवेश' नाम को अंकित किया है[15]। कंदहा-अभिलेख में जहाँ इनका 'भवसिंह' नाम पाया जाता है, वहीं उसमें इनको विमल यश का आगार और ब्राह्मणश्रेष्ठ बताया गया है। विद्यापति ने भी शैवसर्वस्वसार में इनको महाशक्तिशाली नृपाल कहा है, जिनके चरणों पर क्षुद्र नृपतिगण सदा दंडवत् प्रणत होकर अभिवादन किया करते थे। इनके शासनकाल में सर्वत्र सुख-शांति का साम्राज्य था। ये उदार और यज्ञानुष्ठान-प्रिय थे।[16]

ये साहसी, पराक्रमी और योद्धा ही नहीं, साहित्यिक और बौद्धिक स्तर पर भी परम परिपक्व थे। इनके प्रारंभिक शासनकाल में शुद्धिनिबंधकार मुरारि के पितामह

हरिहर उपाध्याय इनके राज्य के मुख्य न्यायाधीश थे, जबकि अंतिम समय में स्वयं मुरारि इनके सभासदों में अन्यतम रहे। भवसिंह के शासनकाल (1361-1410) में अनेक साहित्यसेवी, मेधावी एवं कलाविद् विद्वान् मिथिला में प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित थे। उन्हीं में से महोधूर्त्तराज गोनू झा और म.म.गंगेश उपाध्याय प्रमुख थे[17]।

जब भवसिंह के पुत्र देवसिंह सत्ता पर बैठे तो उन्होंने अपने पूर्वजों की राजधानी 'ओइनी' को दरभंगा के पास अपने नाम पर 'देवकुली' को स्थापित कर यहीं स्थानांतरित कर लिया। यही देवकुली आज-कल 'देकुली' के नाम से जाना जाता है। देवसिंह विद्वानों के संरक्षक बने। इन्हीं के आग्रह पर विद्यापति ने 'भूपरिक्रमा' बनाई थी, श्रीदत्त ने एकाग्निदानपद्धति लिखी। म.म.वर्धमान उपाध्याय इन्हीं के धर्माधिकारी थे जिन्होंने 'स्मृतितत्त्वामृत' की रचना की और देकुली ग्राम में अवस्थित 'वर्धमानेश्वर शिवमंदिर' भी इन्हीं के द्वारा निर्मापित है[18]।

मनमोहन चक्रवर्ती के अनुसार देवसिंह का राज्याभिषेक अनुमानित 1342 ई. में हुआ था तथा उनकी मृत्यु विद्यापति के अनुसार ल.सं. 293 (शक सं. 1324) में हुई थी। परंतु उपेंद्र ठाकुर ने 1334 श.सं. को शुद्ध माना है[19]। कई अन्य स्रोतों से भी यही समय प्रामाणिक प्रतीत होता है।[20] किंतु परमेश्वर झा के अनुसार देवसिंह 1342 से 1403 ई. पर्यंत राज्यभोग करके 90 वर्ष की अवस्था में शिवसायुज्य को प्राप्त किए थे। डॉ.रामप्रकाश शर्मा के अनुसार देवसिंह का शासन काल 1410-1413 ई. था।

जो भी हो, पर हमारे गंगेश उपाध्याय का प्रादुर्भाव इसी राजनीतिक संधिकाल में हुआ था अर्थात् जब एक ओर कर्णाट राजवंश अस्ताचल की ओर बढ़ रहा था और दूसरी ओर ओइनिवार राजवंश के उदय की लालिमा दिख रही थी तभी गंगेश अवतरित हुए । एक राजवंश के समय (1191 ई. - 1326 ई.) उनका जन्म तो दूसरे राजवंश के समय (1344 ई. - 1413 ई.) उनका निधन हुआ। उनका जन्म कर्णाटवंशीय राजा रामसिंहदेव (1191-1275 ई.) के राज्यकाल में कभी हुआ होगा तथा ओइनिवारनरेश राजा भवसिंह (1361-1410 ई.) के समय में कभी वे शिवसायुज्य को प्राप्त किए होंगे। अत: उनका समय 1270-1370 ई. के बीच मानना ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है। किंतु उनकी सर्वक्षेत्रीय सक्रियता निश्चय ही कर्णाटराजा हरिसिंहदेव (1295-1326 ई.) के समय रही होगी, जिस समय वे युवा और प्रौढ़ थे।

जिस प्रकार विद्यापति भवसिंह, देवसिंह एवं शिवसिंह - तीन पीढ़ियों के समय विद्यमान थे ; मुरारि और उनके पितामह हरिहर तीन पुस्त भवसिंह के काल में वर्त्तमान थे, हरिसिंहदेव के मंत्री चंडेश्वर ठाकुर ओइनिवारनरेश राजा भवसिंह के समय तक जीवित और सक्रिय थे ; उसी प्रकार गंगेश उपाध्याय भी भवसिंह के प्रारंभिक शासनकाल में विद्यमान होने पर भी अधिक सक्रिय कर्णाटवंशीय राजा हरिसिंहदेव के ही समय रहे होंगे, जिस समय गोनू झा भी थे। चंडेश्वर ठाकुर गोनू झा के बड़े भाई हरिब्रह्म उपाध्याय के सहाध्यायी और मित्र थे।

संदर्भ

1. JASB, New Series, 1915. p. 407-8
2. History of Mithila, Dr. Uppendra Thakur, p. 173
3. मिथिलाक इतिहास, पृ. 173
4. मिथिला का इतिहास, रामप्रकाश शर्मा, पृ. 225
5. JASB, New Series, 1915. p. 228
6. मिथिलाक इतिहास, उपेन्द्र ठाकुर, पृ. 175-76
7. J.B. & ORS - 22/86, JASB, 1929. p. 37
8. Bihar through the ages, R.R. Divakar, p. 381
9. मिथिला का इतिहास, डॉ. शर्मा, पृ. 253
10. मिथिला का इतिहास, प्रो. ठाकुर, पृ. 188
11. मिथिला का इतिहास, प्रो. ठाकुर, पृ. 187
12. मिथिला का इतिहास, डॉ. शर्मा, पृ. 261-65
13. मिथिला का इतिहास, प्रो. ठाकुर, पृ. 190
14. मिथिला का इतिहास, प्रो. ठाकुर, पृ. 190
15. JASB, New Series, p. 417 तथा मिथिला का इतिहास, पृ. 267
16. मिथिला का इतिहास, प्रो. ठाकुर, पृ. 190
17. मिथिला का इतिहास, प्रो. ठाकुर, पृ. 191, मि.त.वि. पृ. 92
18. वही, पृ. 192
19. वही
20. JASB, 1915, p. 422 जिसमें 23 मार्च 1412 या 1413 को देवसिंह का निधन माना गया है।

6

गंगेश और गंगेश्वर

यह विडंबना ही है कि मिथिला में एक-एक नाम के अनेक विद्वान् होते रहे हैं; जिससे ग्राम, काल, परिचय और रचनाओं में निश्चित मत बना पाना कठिन हो जाता है। निर्विवाद परिचय भी विवादों से घिर जाता है। वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य, जयदेव मिश्र, पक्षधर मिश्र, केशव मिश्र, मुरारि मिश्र, शंकर मिश्र, पद्मनाभ मिश्र, वर्धमान उपाध्याय की ही भाँति गंगेश या गंगेश्वर भी एकाधिक हुए हैं, जिससे इनका भी परिचय निर्विवाद नहीं रह पाया। और तो और, गंगेशोपनामक गंगेश्वर उपाध्याय भी एक ही गाँव में दो हुए हैं, दोनों दार्शनिक और तार्किक। यहाँ इस नाम के कुछ ज्ञात व्यक्तियों का परिचय दिया जा रहा है, जिससे आगे चलकर परिचय सिद्ध करने में सहायता मिल सके।

(क) मंगरौनी ग्राम के फणदहवार मूल में 'महामहोपाध्याय' पद-विभूषित विद्वानों का कतई अभाव नहीं है। केवल गोंढ़ि प्रसिद्ध रविपति उपाध्याय की संतति शाखाओं में ही छः-सात पीढ़ियों के बीच न्यूनातिन्यून बत्तीस 'महामहोपाध्याय' हो गए हैं। इस वंश के वीजीपुरुष थे कुसुमादित्य, जिनकी सातवीं पीढ़ीपर हलेश्वर के पुत्र 'गंगेश्वर' हुए हैं। ये तीन भाई थे, जिनमें धनेश्वर एवं धीरेश्वर दोनों गंगेश्वर उपाध्याय के कनिष्ठ थे। पंजी की दो मातृकाओं में गंगेश्वर के स्थान पर इनका नाम 'गंगेश उपाध्याय' दिया गया है और उनकी उपाधि सर्वत्र 'महामहो' दी गई है।

(ख) सिंहाश्रम मूल के महामहो. हलायुध के प्रपौत्र अर्थात् महिधर के पुत्र गंगेशोपनामक गंगेश्वर भी पंजी में महामहोपाध्याय के रूप में चर्चित हैं। इनके पुत्र वागीश्वर थे और ये लोग पंजीप्रबंध निर्माण के समय उपस्थित थे।

(ग) गंगौली अथवा गंगौलिवार मूल के वीजी हुए हैं गंगाधर, जिनके प्रपौत्र संकर्षण ठाकुर 'खंडवा' ग्रामोपार्जक हैं। इनके पौत्र गंगेश्वर भी महामहोपाध्याय थे और वे भी पंजी निर्माण के समय विद्यमान थे। गंगेश उपनामक इन्हीं के वंश में महाराज महेश ठाकुर हुए हैं।

(घ) बुधवाल वंश के वीजी पुरुष वासुदेव के तीन पुत्र थे विभाकर विद्याकर और प्रभाकर। इनमें प्रभाकर के प्रपौत्र 'पुराश' के पौत्र भानुकर के पुत्र गंगेश्वर थे। इनका भी नामांतर गंगेश था और ये महाराज हरिसिंहदेव के परवर्ती थे ।

(ङ) सरिसबे मूल के बीजी रत्नपाणि के प्रपौत्र जयादित्य के पुत्र दामू के पौत्र भी गंगेश्वर थे। गंगेश्वर सरिसबे मूल की छादन शाखा से संबद्ध थे और इनका गोत्र शांडिल्य था।

(च) वेदभाष्यकार हरिहर सकराढ़ी मूलक काश्यप गोत्रीय थे। इनके पिता कारू और पितामह शूलपाणि दोनों महामहोपाध्याय थे, जिनके पूर्वज 'गंगेश' भी महामहोपाध्याय हुए हैं, पर वे करुआनी मूल में। स्मरणीय है कि 'करुआनी' ही बादमें 'सकराढ़ी' मूल बना।

(छ) सोनकरियाम कर्माहा मूल में भी वीजी वंशधर के बृद्ध प्रपौत्र और हरिकेश के प्रपौत्र महामहोपाध्याय गंगेशोपाध्याय नामक गंगेश्वर उपाध्याय हुए हैं, जो गिरीश्वर के पुत्र और वराहेश्वर, श्रीवत्स आदि के पिता थे।

पंजीप्रबंध में उद्धृत इन सब गंगेश/गंगेश्वर के अतिरिक्त कुछ का परिचय हमें डॉ.वी.राघवन् संपादित 'न्यू कैटेलोगस कैटेलोगोरम' (भाग.5) से भी चलता है। इसके अनुसार गंगेशवल्लभकार गंगेश, लक्षणातत्त्व एवं लक्षणामंजरी के कर्त्ता गंगेश, सुमनोरमा (व्याकरण) के प्रणेता गंगेश मिश्र, चतुर्वर्गचिंतामणि (वेदांत) के रचयिता गंगेश मिश्र, कातंत्र कौमुदीकार गंगेश शर्मा, शाब्दबोधप्रकाशकार गंगेशोपाध्याय, शब्दानुशासनकार गंगेशोपाध्याय, शब्दरहस्य में रमाकांत विद्यावागीश द्वारा चर्चित गंगेश्वरोपाध्याय मुख्य हैं।

अब यहाँ एक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि हमारे चरित नायक गंगेश का नाम क्या था—गंगेश या गंगेश्वर अथवा दोनों? गंगेश ने अपनी एकमात्र कृति 'तत्त्वचिंतामणि' के मंगलाचरण में अपना नाम 'गंगेश' ही बताया है—

"अन्वीक्षानयमाकलय्य गुरुभिर्ज्ञात्वा गुरूणां मतं
चिंतादिव्यविलोचनेन च तयोः सारं विलोक्याखिलम्।
तंत्रे दोषगणेन दुर्गमतरे सिद्धांतदीक्षागुरु-
***गंगेश**स्तनुते मितेन वचसा श्रीतत्त्वचिंतामणिम्।।"*

परंतु इन्हीं के पुत्र और शिष्य वर्द्धमान ने (किरणावलीप्रकाश में) स्पष्ट कहा है कि—

''न्यायाम्भोजपतंगाय मीमांसापारदृश्वने।
***गंगेश्वराय** गुरवे पित्रेऽत्र भवते नमः।।''*

कुसुमांजलिप्रकाश में भी यथा—

''यस्तर्कतंत्रशतपत्रसहस्त्ररश्मिः
***गंगेश्वरः** सुकविकैरवकाननेंदुः।*
तस्यात्मजोऽतिविषमं कुसुमांजलिं ते
प्राकाशयत्कृतिमुदे बुधवर्द्धमानः।।''

इन उद्धरणों से यही निश्चित होता है कि तत्त्वचिंतामणिकार का मूल नाम 'गंगेश्वर' और व्यावहारिक नाम 'गंगेश' था। वे अपने उपनाम से तो ग्रंथ लिख सकते हैं, पर पुत्र कदापि दूसरे का नाम पिता के रूप में नहीं दे सकता। अतः ये दोनों ही नाम हमारे चरितनायक के ही हैं। यहाँ इस शंका का भी कोई अवसर नहीं कि वर्द्धमान के पिता गंगेश्वर और तत्त्वचिंतामणिकार गंगेश भिन्न हैं । क्योंकि पहली बात तो यह कि गंगेश ने जिस प्रकार तत्त्वचिंतामणि के मंगलाचरण में 'अन्वीक्षानयमाकलय्य गुरुभिर्ज्ञात्वा गुरूणां मतम्' के द्वारा अपने को न्याय-मीमांसा का विशेषज्ञ बताया है, उसी प्रकार वर्धमान ने भी अपने पिता और गुरु गंगेश्वर को 'न्यायाम्भोजपतंगाय मीमांसापारदृश्वने' के द्वारा न्याय और मीमांसा का ही मर्मज्ञ माना है। अतएव गंगेश और गंगेश्वर—इन दोनों नामों के नामी को एक ही मानना चाहिए। दूसरी बात यह कि उदयन और श्रीवल्लभ की कृतियों पर वर्धमान द्वारा की गई व्याख्याओं में जहाँ 'अस्मत्पितृचरणास्तु' कहकर जिन सिद्धांतों की व्याख्या प्रस्तुत की गई है, वहाँ तत्त्वचिंतामणि के वक्तव्यों का ही परिष्कार रहता है। अतः उक्त दोनों को भिन्न मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। जबकि पंजी प्रबंध में भी इनसे संबंधित स्थलों पर ये दोनों नाम पाए जाते हैं। यथा 'छादनसं तत्त्वचिंतामणिकारक महामहोपाध्याय परमगुरु गंगेश्वरः''—ऐसा इनके संबंध में कहा गया है। जबकि इनके पुत्र 'सूपन' के दौहित्र शांडिल्य गोत्रीय जजिबालमूलक भवेश्वर के प्रसंग में आगे कहा गया है—''छादनसं तत्त्वचिंतामणिकारक जगद्गुरु महामहोपाध्याय गंगेशसुत सूपनदौ भंडारिसमसं हरादित्यदुदौ।'' अर्थात् गंगेशसुत सूपन के दौहित्र, भंडारिसममूलक अथवा भंडारिसमग्रामसंभूत हरादित्यके दुहितुर्दौहित्र।

वर्धमानकृत उपर्युक्त पदद्वय के प्रसंग किसी ने यह संभावना व्यक्त की है कि पद्यपूर्त्ति हेतु 'ईश' (गंगेश) शब्द के स्थान में 'ईश्वर'(गंगेश्वर) शब्द का संयोजन किया गया है, इसका प्रत्याख्यान पंजी प्रबंध के अवलोकन से स्वतः हो जाना चाहिए, क्योंकि वहाँ तो गद्य का प्रयोग हुआ है। साथ ही यदि पद्यपूर्त्ति की ही बात होती तो

वर्द्धमान सरीखे पंडित को अन्य छंद का प्रयोग करने में क्या समस्या थी ? अतः ऐसी संभावना व्यर्थ है।

यदि यहाँ यह प्रश्न उत्थापित करें कि वर्धमान ने तो अपने पिता को 'सुकवि-कैरव-काननेंदुः' कहा है और गंगेश तो अपने को कवि भी नहीं मानते, फिर दोनों की अभिन्नता कैसी ? इसका समाधान यह है कि तत्त्वचिंतामणि जैसे दार्शनिक और गूढ़ ग्रंथ की प्रामाणिकता-ज्ञापन में कवित्व-ज्ञापन की अनावश्यकता, अनुपयोगिता को देखते हुए गंगेश ने उसकी चर्चा नहीं की। अप्रासंगिक, अव्यावहारिक पद या विशेषण को जोड़ना गंगेश को अभीष्ट नहीं था, तभी तो इन्होंने 'गंगेशस्तनुते **मितेन वचसा** श्रीतत्त्वचिंतामणिम्' लिखा है।

वर्धमान के द्वारा अपने पिता को 'सुकविकानन का चांद' कहने का तात्पर्य कदाचित् यह रहा हो कि उन्होंने किसी काव्य की रचना की होगी जो तत्त्वचिंतामणि के समान ही प्रौढ़ रहा होगा, जो आज अनुपलब्ध है। वे काव्यग्रंथ रचे हों अथवा नहीं, पर चिंतामणि ग्रंथ में जो ही पद्य मिलते हैं, क्या उतने से ही उन्हें 'सुकवि कैरवकाननेंदु' नहीं कहा जा सकता ? जहाँ पर गुण-अलंकार-भावविन्यास-व्यंजना और निर्दुष्ट पदावली का सामंजस्य है ।

7

गंगेश का जन्मस्थान

गंगेश को कई विद्वान् मधुबनी मंडलांतर्गत 'मंगरौनी' (मंगलवनी) ग्राम का वासी मानते हैं [1], तो कई 'करियन' ग्राम का। कुछ लोग हैं, जिनके मत में गंगेश का निवास स्थान 'चकौती' था तो कुछ विद्वान् उन्हें 'छादन' (छाजन) ग्राम का निवासी कहते हैं। कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं, जिन्होंने उन्हें बंगाल का वासी माना है। इस तरह गंगेश का मूल जन्मस्थान संदिग्ध कहा जा सकता है। जनश्रुति उन्हें 'मंगरौनी' का ही वासी मानती है या फिर 'करियन' का।

कमलनारायण झा 'कमलेश' के मत में गंगेश उपाध्याय अहल्यास्थान के पास अवस्थित 'चकौती' ग्राम के निवासी थे, जहाँ कभी भाष्यकार गुणविष्णु भी हुए हैं। यह तो सत्य है कि चकौती की प्रसिद्धि न्याय-नव्यन्याय शास्त्रों के कारण रही है, जहाँ कई बड़े-बड़े नैयायिक होते भी रहे हैं ; परंतु मिथिला की अनुश्रुति कभी चकौती को गंगेश से जोड़कर नहीं देखती और न दूसरे किसी विद्वान् ने ऐसी बात कही है। अत: गंगेश का चकौती ग्राम-वासी होना प्रतीत नहीं होता।

गंगेश को 'करियन' ग्रामवासी माननेवालों में प्रमुख हैं म.म. कविशेखर पं.बदरीनाथ झा। इन्होंने अपने गुणेश्वरचरितचंपू में उदयनाचार्य, गोवर्द्धनाचार्य और गंगेशोपाध्याय तीनों को 'करियन' ग्राम का ही निवासी माना है। गंगेश के प्रसंग लिखते हैं—

''गौतमरोपितवीजं सिंचन्नचिरेण कल्पनासुधया।
न्यायरसालविटपिनं पल्लवयामास यत्र गंगेश:।।''

वहीं गंगेश की टिप्पणी में कविशेखर प.झा देते हैं—'अयमपि 'करियन' ग्रामवासी[2]।' डॉ.रामप्रकाश शर्मा के अनुसार करियन ग्राम में गंगेश ने एक विद्यालय भी खोल रखा था, जो ग्राम दरभंगा से 12 मील दक्षिण-पूर्व दिशा में अवस्थित है[3]।

राजेंद्रनाथ घोष के अनुसार रोसड़ा रेलवे स्टेशन के पास 'करियन' ग्राम में इनके मामा का घर था[4]।

पं.आनंद झा के मत में 'उनका जन्मस्थान और उनके मामा का घर मिथिला के किसी भाग में क्यों न रहा हो, किंतु विद्वान् बनने के बाद वे कर्णाटक-नान्यवंशीय मैथिल शासक के आश्रित होकर मिथिला के पश्चिमभाग वासी अवश्य बन गए थे। तभी भरौड़ा के पश्चिम सन्हपुर, लखनपुर, कोइली, नान्हपुर आदि के निकट गंगेश्वर नामक शिवजी का स्थान 'गंगेश्वर-स्थान' कहा जाता है—पाया जाता है। वहाँ के शिव उन्हीं के द्वारा स्थापित हुए थे, यह उनके नामकरण से ही सिद्ध होता है'[5]।

यह तो निश्चित ही है कि गंगेश स्मार्त्तधर्मावलंबी होने से भले ही पंचदेवोपासक रहे हों, पर शिवजी में उनकी अनन्य भक्ति थी, वे परम शैव थे । अन्यथा अपनी एकमात्र रचना तत्त्वचिंतामणि में वे त्रिपुरारि भगवान् शिवजी को 'पुरभित्' के रूप में प्रणाम क्यों करते—

''गुणातीतोऽपीशस्त्रिगुणसचिवस्त्र्यक्षरमय-
स्त्रिमूर्त्तिर्य: स्वर्ग-स्थिति-विलयकर्माणि तनुते।
कृपापारावार: परमगतिरेकस्त्रिजगतां
नमस्तस्मै कस्मैचिदमितमहिम्ने पुरभिदे।।'' [6]

इतना ही नहीं मैथिल पंजीप्रबंध में गंगेश को जिस 'छादन' ग्राम का वासी माना गया है, वह भी मिथिला के पश्चिम भाग में ही स्थित है। यद्यपि म.म.एन.एस.रामानुज ताताचार्य ''गंगेशस्य जन्मग्राम: 'छदन' इत्यपि पंजीत: अवगम्यते। परंतु स ग्रामोऽधुना अदर्शनं गत:''[7] लिखते हों, और भी कोई ''यद्यपि मैथिल पंजी में छादन गाँव के निवासी बताए गए हैं तथापि मिथिला में उस गाँव का नाम नहीं मिलता'[8] कहते हों; परंतु आज भी इस गाँव का अस्तित्व पाया जाता है। अंतर हुआ है तो बस केवल उसके स्वरूप में, 'छादन' के बदले 'छाजन' ग्राम की सत्ता देखी जाती है। शताब्दियों बीतने पर इतना होना कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है।

यह 'छाजन' ग्राम आज भी मुजफ्फरपुर जिला में तुर्की रेलवे स्टेशन से उतरकर जाया जा सकता है। तुर्की चौक से पश्चिम तीन किलोमीटर पर अवस्थित 'छाजन' के आस-पास रुपौली, बहिलवारा, सुपना आदि कई गाँव हैं, जहाँ शताब्दियों से सहस्त्रों मैथिल परिवार बस रहे हैं।

कर्णाटवंशीय राजा रामसिंह के समय (1234 ई.) में तिब्बत का एक पर्यटक 'धर्मस्वामिन' नेपाल के रास्ते मिथिला आया था। उसने अपने यात्रा विवरण में कई स्थानों और विषयों का उल्लेख किया है। उसी क्रम में वह लिखता है कि 'मिथिला के पश्चिमी भाग में, विशेषकर 'टो-कि' के आसपास जैन एवं बौद्धधर्म के अनुयाई

पाए जाते हैं, जिनका सामाजिक स्तर बहुत ही कमजोर हैं'। यहाँ जिस 'टो-कि' स्थान का उल्लेख तिब्बती यात्री करता है, वही आज का 'तुर्की' है। जिस के पास गंगेश का 'छादन' ग्राम था, जो आज 'छाजन' से प्रसिद्ध है। 'छाजन' ग्राम के अव्यवहित पश्चिम, अनतिदूर में ही 'सुपना' नामक ग्राम है, जो वहाँ के निवासियों के अनुसार गंगेश-पुत्र 'सूपन' के नाम पर अवस्थित है। यहाँ से पाँच किलोमीटर उत्तर-पूरब की दिशा में जो 'बधमा' ग्राम पाया जाता है, उसे गंगेश के ज्येष्ठपुत्र 'वर्धमान' के निवास से जोड़ा जाता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि पंजीप्रबंध में गंगेश के दो पुत्रों का उल्लेख हुआ है और वह भी—वर्द्धमान तथा सूपन नाम के । अत: छाजन, सुपना, बधमा ग्रामों की स्थिति से निश्चय ही गंगेश और उनका परिवार वहीं के सिद्ध होते हैं।

इसी छाजन गाँव में गंगेश से पूर्व आर्यासप्तशती के प्रणेता गोवर्धनाचार्य रहा करते थे। गोवर्धन के अनुज और शिष्य थे बलभद्राचार्य, जिनके प्रसंग स्वयं गोवर्धन ने अपने उक्त ग्रंथ में उल्लेख किया है। इन्हीं के पुत्र रामभद्राचार्य अपने एक ग्रंथ में लिखते हैं ''छादनकुलतरुपल्लवस्य कवितावल्लभस्य विपंचीपंचमोदञ्चितकीर्त्तेः गोवर्द्धनाचार्यस्यावरजस्य बलभद्राचार्यस्य सूनोः श्रीरामभद्रस्य ......''[9]। 1109 ई. में जिन्होंने अपने नाम पर लक्ष्मणसंवत् चलाया, उन्हीं कनसोन के राजा लक्ष्मणसेन के सभापंडित थे गोवर्धन। अत: वे हमारे चरितनायक से प्राचीन जरूर हैं। इसी प्रकार सूर्यसिद्धांत के टीकाकार चंडेश्वराचार्य (सप्तरत्नाकरकार चंडेश्वर ठाकुर से भिन्न और प्राचीन), जो कर्णाटवंशीय राजा नरसिंहदेव (1187 ई.) के सभासद थे, प्राय: इसी ग्राम के निवासी थे। क्योंकि उनकी टीका की पुष्पिका में स्पष्टत: 'छादनग्रामे लिखितैषा' लिखा है। इससे प्रतीत होता है कि उन दिनों 'छादन' की समाज में कितनी प्रतिष्ठा रही होगी।

इसमें दो राय नहीं कि मंगरौनी ग्राम शताब्दियों से विद्वानों का ग्राम रहा है। यहाँ 'गेहे-गेहे सरस्वती' की बात चरितार्थ होती आई है। अत: विगत शताब्दी में विद्वान् या आलोचक अलग-अलग किंवदंती के आधार पर अथवा अपने अनुमान के आधार पर, प्रमाण के अभाव में शताब्दी-पूर्व किंवा सहस्राब्दी-पूर्व हुए विभूति को प्रसिद्ध ग्राम के साथ जोड़ देते रहे। यही कारण है कि दो-तीनसौ वर्ष पुराने पंडितों में अधिकांश का परिचय, विशेषकर उनके निवास स्थान को लेकर मतैक्य नहीं है। इसी कोटि में आते हैं उदयन, गोवर्द्धन, गंगेश आदि। जब उनके वंशज नहीं हैं, मूल नष्ट हो गया है, स्वयं उन्होंने या उनके 6-7 सौ वर्ष बाद के किसी विद्वान् ने उनके जन्मस्थान के बारे में कुछ नहीं कहा ; फिर कैसे कह सकते हैं कि अमुक व्यक्ति अमुक ग्राम के थे।

व्याप्तिपंचक-माथुरी के बंगानुवाद की भूमिका में डॉ.राजेंद्रनाथ घोष लिखते हैं कि तत्त्वचिंतामणि-ग्रंथकार महामति गंगेशोपाध्याय बंगालियों के मत में बंगाली थे, किंतु मैथिलों के मत में मिथिलावासी तथा मैथिल ब्राह्मण थे[10]। बंगाली इनकी जन्मभूमि

को नहीं बताते और न ही घोष साहब ने उस बंगाली का नाम ही लिया है, जिन्होंने इन्हें बंगाली कहा है। उद्धरण के अभाव में उनका कथ्य कितना प्रामाणिक है, हम नहीं जानते। परंतु हाँ, स्वयं उन्होंने गंगेश को मिथिला का वास्तव्य माना है—यह तथ्य भी आनंद झा की भूमिका में उद्धृत हैं[11]। जबकि अपने बंगीयग्रंथ 'न्याय परिचय' की भूमिका में म.म.फणिभूषण तर्कवागीश ने गंगेश का जन्मस्थान 'मंगरौनी' ग्राम को माना है[12]।

संदर्भ

1. जनसीदन जी, ज.स्मा.ग्र. पृ.7, त्रि.ना.मिश्र., मिथिलाङ्क, पृ.91, मिथिला का इतिहास, डॉ.शर्मा, पृ.520, मिथिला की सारस्वत सुषमा, विनयानंद झा, पृ.45, सं.वा.का.बृ.इ., IX, p.103 , न्यायपरिचय की भूमिका में म.म. फणिभूषणतर्कवागीश, (आनंद झा, त.चि. की भूमिका में उद्धृत, पृ.32)
2. गु.च.च., 1/34, पृ.24
3. मिथिला का इतिहास, पृ.520
4. त.चि. की भूमिका में प.आनंद झा KSDSU, p. 30-31
5. वही, पृ.34
6. त.चि., पृ.1
7. त.चि. की भूमिका, पृ.16, तिरुपति
8. सं.वा.का बृ.इ. IX, p. 103
9. आ.स., भूमिका, पृ.20, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 2011
10. त.चि. की भूमिका, पृ.29 पर आनंद झा ने इस बात को उठाया है।
11. वही, पृ.30-31
12. वही, पृ.32

8

गंगेश का मूल और गोत्र

1200 ई. के आस-पास मिथिला में न्याय-मीमांसा के पारगामी विद्वान् महामनीषी आचार्य गंगेश उपाध्याय का प्रादुर्भाव होता है। अभिनव गौतम के महनीय विरुद से विभूषित इनकी प्रतिभा और वैदुष्य से 'न्याय' रूपी रत्नाकर में एक नई धारा की प्रतिष्ठापना हुई। इन्होंने न्यायशास्त्र को प्राचीन पदार्थशास्त्र के मार्ग से हटाकर प्रमाणशास्त्र के रूप में अति विशिष्ट गौरव प्रदान किया। इन्होंने न्यायदर्शन के एकमात्र सूत्र ''प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि'' (1/1/3) को लेकर एक ऐसे गंभीर ग्रंथ 'तत्त्वचिंतामणि' की रचना की, जिसका स्वयं का कलेवर तो 300 पृष्ठों से अधिक का नहीं होगा, परंतु उसपर लिखी गई टीका, उपटीकाओं व प्रकरण ग्रंथों को यदि मिलाकर देखा जाय तो समवेत पृष्ठ संख्या लाखों में होंगी, यहाँ तक कि गणनातीत होंगी।

इनका जन्म छादन नामक गाँव में हुआ था, जिसका उल्लेख पंजीप्रबंध में किया गया है 'छादनसं तत्त्वचिंतामणिकारक महामहोपाध्याय परमगुरु गंगेश्वरः'। यहाँ 'छादनसं' का अर्थ पंजी प्रबंध की भाषा में 'छादन संभूत' होता है। तत्कालीन प्रथा के अनुसार उत्कट सेवा किए जाने पर प्रसन्न होकर अथवा विद्यावैदुष्य के प्रभाव से प्रभावित होकर राजा लोग पुरस्कार-स्वरूप किसी किसी को 'ग्राम' दान में दे दिया करते थे, जिसके बाद ग्रहीता स्वयं, उनके परिवार एवं वंशज सब उसी ग्राम के नाम से अभिज्ञात होने लगते थे अर्थात् उस व्यक्ति या परिवार के लिए वह ग्राम परिचायक हो जाता था। वही ग्राम 'मूल' या 'मूलग्राम' कहलाने लगता था। आज किसी को कोई ग्राम तो नहीं मिलता, पर मिले हुए ग्राम के आधार पर आज भी 'मूल' उसी रूप में प्रचलित है। स्मरणीय है कि यदि किसी व्यक्ति को कोई ग्राम दिया गया तो वह ग्राम उन लोगों के

लिए 'मूल' तो हो ही जाता था, पर यदि उनके पौत्र-प्रपौत्र या वंशज को पुनः किसी राजा से कोई दूसरा ग्राम प्राप्त होता था, तो उनका और उनके बाद की पीढ़ियों (वंशजों) का मूल बदल जाता था, नया मूल हो जाता था।

अभिप्राय यह है कि मिथिला में वंशों का नामकरण पूर्वजों के निवासस्थान के आधार पर किया जाता था, जो बाद में तत्कालीन राजा-महाराजाओं के द्वारा अपने वैदुष्य बल पर उपहार-स्वरूप प्राप्त ग्राम-विशेष के नाम से भी जाना जाने लगा। अतः एक ही वंश में दो या तीन मूल ग्राम भी देखे जाते हैं। यथा भंडारिसम मूल से फणदह या फणदहवार मूल हुआ, सोनकरियाम से कर्माहा, सिंहाश्रम से सोदरपुर, एकमा से बलियासय, डोमटेकारी से एकहरा आदि। इसी प्रकार गंगौलिवार मूल बाद में दो भागों में बँट गया, एक खंडबला मूल कहलाया तो दूसरा पबौली, पगौली या पगुलवार।

काश्यपगोत्रीय जयपति के पौत्र परम तपस्वी विद्वान् ओएन ठाकुर ने कर्णाटवंशीय राजा से जब 'ओइनी' ग्राम प्राप्त किया, तो उनका मूल खौआड़य जगतपुर से बदलकर ओइनी या ओइनिवार हो गया। सिंहाश्रम (सिंहासमय) मूल के शांडिल्यगोत्रीय हलायुध के वंशज हलेश्वर-सुरेश्वर और जीवेश्वर—इन तीनों सोदर भाइयों को जब तत्कालीन राजा से एक ग्राम उपहार में मिला, तो इन तीनों भाइयों ने उस ग्राम का नाम बदलकर 'सोदरपुर' कर दिया और तबसे इनका मूल 'सोदरपुर' हो गया। वंशधर झा सोनकरियाम मूल के वीजी थे, उनके वंशज 'कर्माहा' मूल के कहलाते हैं। यह भी कहा जाता है कि मध्य में किसी वंशधर (संज्ञा नहीं) के द्वारा 'छादन' ग्राम मिलने के कारण उनके वंशज 'छादन मूलक' भी हो गए तथा 'कर्माहा' ग्राम उपहार में मिलने के बाद वे ही लोग कर्महावंशीय कहलाने लगे। इसी प्रकार महाराज महेश ठाकुर के पूर्वज गंगाधर उपाध्याय गंगौलिवार मूल के थे, जिनके प्रपौत्र संकर्षण उपाध्याय अपने विद्याबल से मध्यप्रदेश में 'खंडवा' ग्राम उपार्जित किए, जिससे उनका आस्पद 'ठाकुर' हो गया और मूल खंडवला (खड़ोरय) कहलाया।

हमारे चरितनायक गंगेश को अथवा इनके पिता 'गिरीश्वर' को तत्कालीन राजा से 'छादन' ग्राम उपहार में मिला था। संभव है नव्यन्याय की प्रतिष्ठा करने के उपलक्ष में स्वयं इन्हें ही यह ग्राम दान-स्वरूप प्राप्त हुआ हो। ध्यातव्य है कि सामान्यतः जो जिस गाँव में रहा करते थे, प्रारंभ में उन्हें वही ग्राम दे दिया जाता था। अथवा पंजी-प्रबंध निर्माण के समय जो जिस गाँव में रहते थे, उन्हें उसी गाँव का मान लिया जाता था। अतः यह भी संभव है कि गंगेश को यह ग्राम दान में मिला ही न हो। उसी समय महाराज हरिसिंहदेव के द्वारा पडुए ग्रामवासी रघुदेव झा के नेतृत्व में पंजी प्रबंध का निर्माण किया जा रहा था, जिस समय गंगेश 'छादन' नामक ग्राम में रह रहे थे। अतः उनका 'मूल' छादन माना गया।

पंजी निर्माण के संबंध में कहा गया है कि—

''शाके श्रीहरिसिंहदेवनृपते भूयार्क तुल्येजनि-
स्तस्माद्दत्तमितेब्दके द्विजगणैः पंजीप्रबंधः कृतः।
तस्माद्वै द्विजबीजिवंशकलितं यद्विप्रचक्रे पुरा
तद्विप्राय समर्पितं सुकृतिने शांताय सर्वार्थिने।।''

इस पंजीप्रबंध का निर्माण शाके 1232 में अर्थात् सन् 1310 ई. में हुआ था, जिस समय गंगेश 'महामहोपाध्याय' भी हो गए थे और 'परमगुरु' भी। अतः पंजीप्रबंध में उनके इन दोनों विशेषणों का उल्लेख मिलता है। साथ ही तब तक 'तत्त्वचिंतामणि' की रचना भी हो गई थी, जिस कारण गंगेश को 'तत्त्वचिंतामणिकारक' (तत्त्वचिंतामणिका रचयिता) कहा गया है।

गंगेश को पंजीप्रबंध में चूँकि 'छादनसं' कहा गया है, अतः कवीश्वर चंदा झा उन्हें 'सरिसबे छादन' मूलक मानते हैं। परंतु म.म.परमेश्वर झा को यह मान्य नहीं, वे स्पष्टतः गंगेश को 'छादन' मूल का ही स्वीकार करते हैं। वस्तुतः दोनों में अंतर है, एक का मूल 'सरिसब' (सरिसबे या सरिसबय) है और 'छादन' उसकी शाखा, जो परवर्ती है। अर्थात् 'सरिसब' मूल के जो वंशज 'छादन' ग्राम में जाकर बस गए, वे तथा उनके वंशज 'सरिसबे छादन' कहलाए। इस तरह प्रायः सभी मूल में एकाधिक शाखाएँ होती रही हैं। 'सरिसब' मूल में ही यथा—'सरिसबे छादन' सरिसबे खाँगुर, सरिसबे सकुरी आदि। 'कर्माहा' (कर्म्महे) में भी यथा—कर्माहा बेहट, कर्माहा नरुआर, कर्माहा तरौनी। 'सोदरपुर' मूल में यथा—सोदरपुर सरिसब, सोदरपुर मानिक, सोदरपुर दिगौन आदि। इस तरह 'सरिसबे छादन' का उत्स 'सरिसब' मूल है, जो शांडिल्यगोत्र में आता है। जबकि 'छादन' मूल 'काश्यपगोत्रीय' है। अतएव यहाँ म.म.परमेश्वर झा का मत युक्तिसंगत और प्रामाणिक दिखता है।

स्मरणीय है कि 'सरिसबे-छादन' मूल में भी गंगेश उपनामक गंगेश्वर हुए हैं, जिससे कवीश्वर चंदा झा को भ्रम हुआ होगा। इस मूल के बीजी हैं रत्नपाणि, जिनके प्रपौत्र जयादित्य बहुत बड़े विद्वान् थे। इन्हीं के प्रपौत्र (जयादित्य-सुत दामू के पौत्र) गंगेश थे। जयादित्य के बाद और गंगेश से पूर्व किसी वंशधर (वंश के लोग) ने तत्कालीन किसी राजा से किसी अज्ञात कारणवश 'छादन' ग्राम उपार्जन किया, और फिर वे वहीं जाकर बस गए। इसके बाद से वे एवं उनके वंशज 'सरिसबे-छादन' मूलक कहलाने लगे। यहाँ दो बातें ध्यातव्य हैं, एक तो यह कि कोई ग्राम यदि किसी को दिया जाता था, तो पूरा नहीं, उस गाँव में कुछ एकड़ जमीन। बसने के लिए एवं जीविका चलाने के लिए राजा जितना आवश्यक समझते थे। दूसरी बात यह कि राजा द्वारा ग्राम दिए जाने पर ही 'मूल' या 'शाखा' बनती थी, अन्यथा कोई कहीं जा कर

यदि बसता था तो उसकी कोई शाखा या उपशाखा नहीं होती थी, पिता-पितामह का ही मूल या शाखा चला करती थी।

अतः सरिसब मूल के जो कोई व्यक्ति छादन आकर बसा होगा, उसे निश्चय ही राजा द्वारा भू-संपत्ति दी गई होगी। जो भी हो, पर ये लोग शांडिल्य गोत्रीय थे—इनमें दो राय नहीं।

इसके विपरीत 'छादन' मूल काश्यपगोत्र में आता है। कारण गंगेश की पुत्री का विवाह वत्सगोत्रीय बभनियाम मूलक साठे उपाध्याय से हुआ था, जिसमें गंगेश को एक दौहित्र हुए 'रत्नाकर'। जैसा कि बभनियाममूलक पंजी में कहा है—'साठे सुतो रत्नाकरः छादनसं तत्त्वचिंतामणिकारक महामहो परमगुरु गंगेश्वरदौ'। इसी प्रकार गंगेश के दोनों पुत्रों के दौहित्रों के प्रसंग तत्तत् वंशीय पंजी मे लिखा है—

1. ''एकमा खंडवलासं विश्वनाथसुत शिवनाथसुताः चंद्रकर-बलभद्र-शोभाकाः छादनसं उपायकारक महामहो वर्धमानदौ''। अर्थात् खंडवला मूलक एकमावासी विश्वनाथ सुत शिवनाथ के पुत्र चंद्रकर, बलभद्र और शोभा, छादन-संभूत उपायकारक महामहोपाध्याय वर्धमान के दौहित्र थे।

2. ''जजिवालसं भवेश्वरः छादनसं तत्त्वचिंतामणिकारक जगद्गुरु महामहो गंगेशसुतसूपनदौ, भंडारिसमसं हरादित्यदुदौ''। अर्थात् जजिवालमूलक भवेश्वर छादनमूलक तत्त्वचिंतामणिकारक जगद्गुरु महामहोपाध्याय गंगेशसुत सूपन के दौहित्र तथा भंडारिसममूलक हरादित्य के दुहितुर्दौहित्र थे।

इससे भी यही सिद्ध होता है कि—

(क) गंगेश की पुत्री का विवाह वत्सगोत्रीय बभनियाम मूल में हुआ था।
(ख) वर्धमान की पुत्री का विवाह शांडिल्यगोत्रीय खंडवलामूल में हुआ था।
(ग) सूपन की पुत्री का विवाह शांडिल्यगोत्रीय जजिवालमूल में हुआ था।
(घ) स्वयं सूपन का विवाह वत्सगोत्रीय भंडारिसमय मूल में हुआ था।

स्मरणीय है कि यही भंडारिसमय मूल बाद में बदलकर फणदहवार या फन्नहवार हो गया, जिसमें गोकुलनाथ उपाध्याय के सदृश विभूति का जन्म हुआ।

संदर्भ

1. मि.त.वि., पृ. 92

9

गंगेश के प्रसंग भ्रांति

गंगेश उपाध्याय के परिचय को लेकर जिस प्रकार कवीश्वर चंदा झा को यह भ्रम हुआ कि वे 'सरिसबे छाजन' मूल के थे, क्योंकि उस मूल में भी गंगेश उपनामक गंगेश्वर हुए हैं ; उसी तरह कुछ और विद्वानों को भी इनके परिचय को लेकर कुछ और प्रकार का भ्रम हुआ। जिसके अनुसार तत्त्वचिंतामणिकार गंगेश कर्महा वंशीय वत्सगोत्रीय थे। अब इसके कारणों पर थोड़ा विचार कर लेना उचित होगा।

कलकत्ता राजकीय संस्कृत कॉलेज के पूर्व प्राचार्य डॉ.प्रमोदरंजन मुखोपाध्याय के अनुसार[1] कर्महावंशीय माणिक उपाध्याय की एक रचना है 'राघवानंदनाटक'[2] जिसकी प्रस्तावना में नट नटी से कहता है कि 'क्या आप नाटककार को नहीं जानती, तो ठीक है सुनिए—''प्रिये! न पुनर्जानासि किं मणिवर्द्धनाभिधं कविवरं? तत्श्रुणु—''। इस प्रकार कहने के बाद माणिक ने जो पद्य दिया है, वह इस प्रकार है—

''आसीच्छ्रोत्रिय विप्रवंशतिलकः सांगत्रयीपारगः
सद्धर्माचरणप्रवीणधिषणः षड्दर्शनीमार्मिकः।
प्रोद्यत्पार्वणपूर्वशीतकिरणन्यक्कारिकीर्त्याश्रयो
विद्वद्वर्य महो गिरीश्वर इति ख्यातोऽत्र वै छादने।।
तत्पुत्रोऽजनि तार्किको बुधवरो गंगेशशर्मा ततो
जातो बुद्धिमतां वरोऽत्र भिषको श्रीवत्सतर्कालयः।
तस्याभूत्तनुजः दिवाकर इति ख्यातः परं शाब्दिकः
तस्माच्छ्रीमणिवर्द्धनोऽजनि सदानंदप्रदो भूतले।।''

इसी प्रस्तावना लेख से संदेह का बीजारोपण होता है। यह गंगेश भी तार्किक है, 'छादन' मूल या ग्राम का है, गिरीश्वर का पुत्र है। अर्थात् एक ही ग्राम में एक ही नाम के पिता के पुत्र, और उन दोनों का अपना मूल नाम और उपनाम दोनों एक ही—

गंगेश्वर और गंगेश। इतना साम्य न केवल संदेह उत्पन्न करता, बल्कि निश्चय तक पहुँचा देता है।

सोनकरियाम-कर्माहा मूल के महोपाध्याय गिरीश्वर को तत्कालीन मिथिलेश से 'छादन' ग्राम प्राप्त हुआ था, पुनः उनके पुत्र गंगेश को उसी राजा से 'कर्माहा' ग्राम उपहार में मिला। 'सोनकरियाम' और 'कर्माहा' मूलों को छोड़ यहाँ किस हेतु से मणिक उपनामक मणिवर्धन ने 'छादन' का उल्लेख किया—अनुसंधेय है। संभव है गिरीश्वर यहीं आकर रह गए हों, जिनके पुत्र गंगेशोपनामक गंगेश्वर पितृमरणोपरांत स्वार्जित ग्राम 'कर्माहा' को अपना निवासस्थल बनाया हो। अन्यथा मणिवर्द्धन के पिता दिवाकर, जो राजवर्द्धन से भी जाने जाते थे अपनी किरणावली टीका 'बहुला' में 'छादन' के बदले 'कर्माहा' का उल्लेख नहीं करते—

''आसीत्पंडितवृंदवन्दितपदाम्भोजद्वयो कर्म्महा
श्रीवत्साख्यबुधौ गुणैकवसतिः ख्यातो द्विजेंद्रः क्षितौ।
नत्वा तस्य सुतोऽङ्घ्रिपंकजयुगं न्यायेंदुचूडामणेः
वृत्तैः स्पष्टमिदं चकार बहुला श्रीराजवर्द्धन्कृती।।''[3]

उपर्युक्त भ्रम के कारण ही किसी ने 'कृष्णमाधवचिंतामणि' में लिखा होगा ''महामहिमोपाध्यायानां प.कृष्णमाधवझाशर्मणां वंशो मिथिलायाः श्रोत्रियब्राह्मणानां 'कर्महाबेहटमूलग्रामकः' चिरंतनकालाद् अधुनावधि विद्वद्गणगुणगौरवो विद्यते। म.म. हरिब्रह्मोपाध्यायः (1200 ई. प्राकृतपैंगले चर्चितः), न्यायतत्त्वचिंतामणिकारो नव्यन्यायप्रवर्त्तको गंगेशोपाध्यायः (1250 ई.), नैयायिको वर्द्धमानोपाध्यायः (गंगेशोपाध्यायपुत्रः) ..... इत्यादय एतद्वंशीया महामनीषिणो न केवलं मिथिलाया एव, अपि तु भारतवर्षस्य गौरवम् अभूवन्।''[4]

''...... प्रायः कुछ समय के लिए यही (कर्महा) छादन मूल भी कहलाया। क्योंकि कुछ व्यक्ति को कर्म्माहा और छादन दोनों मूलों में देखा जाता है। .... कर्म्माहा मूल में ही हुए हैं नव्यन्याय के प्रवर्त्तक म.म.गंगेश उपाध्याय .... ।[5]

इन उद्धरणों व दृष्टिकोणों के मूल में भी वही राघवानंदीय पद्य हैं, जिनके कारण ऐसा भ्रम बना कि तत्त्वचिंतामणिकार और कर्महावंशीय गंगेश दोनों एक मान लिए गए। इन दोनों गंगेशों में जो साम्य हैं, उस पर थोड़ा दृष्टिपात करें—

1. दोनों छादन ग्राम के निवासी थे।
2. दोनों के पिता का नाम गिरीश्वर था और दोनों वैयाकरण थे।
3. दोनों न्याय के विद्वान् थे, तार्किक थे।
4. दोनों ने दो-दो शादियाँ की थीं।

5. दोनों का मूल नाम गंगेश्वर उपाध्याय और उपनाम गंगेश उपाध्याय था। इन दोनों के वैषम्य पर भी विचार करें तो पाएंगे कि—

1. एक वत्सगोत्रीय हैं तो दूसरे काश्यपगोत्रीय।
2. एक के पिता दीर्घजीवी हैं तो दूसरे के अल्पायु।
3. एक को सात पुत्र हुए तो दूसरे को तीन।
4. एक का वंश चल रहा है तो दूसरे का अवरुद्ध है।

संदर्भ

1. जयंती, रा.सं.सं., जयपुर, 2004
2. संपा. म.म. दामोदरलाल शर्मा, निर्णय सागर प्रेस, मुंबई
3. जयंती, पृ.31
4. कृ.मा.झा स्मृ.ग्र (कृ.मा.चि.), पृ.132, 1999
5. पंडितराज श्रीमुरलीधरसौरभम्, हिंदीविभाग, पृ.151, 46

10

गंगेश का काल

गंगेश के समय को लेकर कोई निश्चित तिथि नहीं कही गई है। अलग-अलग विद्वान् अपने-अपने ढंग से इनका समय बताते रहे हैं। यहाँ तक कि ईसा की 11 वीं शताब्दी से लेकर 14 वीं शताब्दी तक के मत भी देखने को मिलते हैं। इसीलिए राजेंद्रनाथ घोष लिखते हैं कि 'गंगेश का आविर्भाव काल भी आज अज्ञान-अन्धकार के द्वारा आवृत हो गया है। क्योंकि विभिन्न आलोचकों ने उन्हें विभिन्न युक्तियों के आधार पर खृष्टीय 11 वीं शतक से लेकर खृ.14 वीं श. के बीच विभिन्न समय में अस्तित्व-शील माना है। न्यायकोष के उपोद्घात में उन्हें 1178 खृष्टाब्द में आविर्भूत कहा गया है। किंतु द्वितीय मतवाद यह उपस्थापित है कि उनका आविर्भाव 1108 ई. में हुआ था। विश्वकोष के मत में वे 14 वीं शताब्दी में विद्यमान थे।[1]

कर्णाटक के विजयनगर-हम्पी राज्य के अधीश्वर महाराज हरिहर-बुक्क के अमात्य रहे माधवाचार्य (सायण के भाई) का समय 14 वीं शताब्दी निर्धारित है। इन्होंने खृ.1386 के आसपास संन्यास ग्रहण करने के बाद 'विद्यारण्यस्वामी' नाम धारण किया था, जो शृंगेरी शारदापीठ में शंकराचार्य भी बने थे। इन्होंने अपने सर्वदर्शनसंग्रह नामक ग्रंथ में वर्धमान उपाध्याय का नामोल्लेखपूर्वक उनके ग्रंथ से उद्धरण ग्रहण किया है। पाणिनि दर्शन के प्रकरण में माधव लिखते हैं "यदाह महामहोपाध्याय वर्धमानः—

लौकिकव्यवहारेषु यथेष्टं चेष्टतां जनः।
वैदिकेषु तु मार्गेषु विशेषोक्तिः प्रवर्त्तताम्।। इत्यादि।"

इससे निश्चय ही वर्धमान को 1350 ई.से पूर्व अथवा उसके आसपास होना चाहिए। वे माधवाचार्य के यदि पूर्ववर्ती नहीं तो वरिष्ठ समसामयिक अवश्य ही रहे होंगे।

किसी ने इन्हें 1290 शकाब्द (1425 सं., सन् 1368) का माना है[2] तो किसी ने 1200 ई. का[3], कुछ लोग 1361 ई. को गंगेश का समय मानते हैं[4] तो कुछ 12 वीं शताब्दी[5] और कुछ 13 वीं शताब्दी[6]। तत्त्वचिंतामणि की भूमिका (पृ.9) में नवीन जी शाह ने इनका समय 1300–1350 ई. कहा है।

स्वयं गंगेश ने अपने बारे में कुछ भी नहीं कहा है, देश-काल-परिचय किसी के भी प्रसंग कुछ नहीं । ऐसी स्थिति में बाह्याभ्यंतर प्रमाण से ही कुछ निर्णय करना पड़ेगा।

तत्त्वचिंतामणि में इन्होंने वाचस्पतिमिश्र, उदयनाचार्य, जयंत भट्ट, शिवादित्य मिश्र, श्रीकर आचार्य आदि के नाम अथवा उनके कृतित्व का उल्लेख किया है, जबकि किसी-किसी के तो मतों को ही उद्धृत किया है। इसी क्रम में गंगेश ने शब्दखंड में हरिनाथ उपाध्याय के मतों का उपयोग किया है, जिनका समय निश्चित रूप से 13 वीं शताब्दी माना गया है। अतः गंगेश को इससे ऊपर नहीं लाया जा सकता। बुधबालवंशीय वासुदेव के पुत्र दिवाकर और प्रभाकर दोनों भाई राजा नान्यदेव के समसामयिक होने से जहाँ 11वीं शताब्दी के अंतिम चरण के थे, वहीं श्रीवल्लभाचार्य, तरणिमिश्र, सोण्ढल उपाध्याय और शशधर उपाध्याय—ये सब 12 वीं शताब्दी में विद्यमान थे। अतः गंगेश के ये अधिक पूर्ववर्ती हैं। मणिकंठ मिश्र और श्रीहर्ष अवश्य ही बारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में अवस्थित थे, पर वे भी हरिसिंहदेव (1303–1326 ई.) के समकालिक रहे हरिनाथ उपाध्याय से प्राचीन हैं। अतः गंगेश ने जिन-जिन लोगों को उद्धृत किया है, चाहे उनकी रचनाओं से उद्धरण ग्रहण किया है, उनमें सर्वाधिक अर्वाचीन स्मृतिसार के रचयिता हरिनाथ ही हैं। पूज्य पितृव्य चरण डॉ.किशोरनाथ झा का यह मत यहाँ समीचीन प्रतीत होता है कि "गंगेश के पूर्ववर्ती मैथिल नैयायिकों में प्रभाकर उपाध्याय जगद्गुरु तथा स्मृतिसार के प्रणेता हरिनाथ उपाध्याय का नाम भी यहाँ स्मरणीय हैं। यद्यपि इनकी कृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं तथापि तत्त्वचिंतामणि में बिना नाम-निर्देश का इनके मतों का उल्लेख मिलता है। .... संभव है कि ये सभी गंगेश उपाध्याय के समसामयिक या वृद्ध समकालिक रहे हों और उस समय में अधिक प्रसिद्ध हों, अतएव न तो इनका नाम लेना संभव रहा होगा और न तो इनकी उपेक्षा करना ही। अतएव गंगेश ने मतों की चर्चा तो की है, किंतु नाम नहीं लिया है..."।[7]

डॉ.दिनेशचंद्र भट्टाचार्य[8], डॉ.उमेशमिश्र[9], डॉ.इंगाल्से[10] प्रभृति विद्वानों की राय में गंगेश का समय 13 वीं शताब्दी में स्थिर किया जा सकता है। इनके अनुसार—

(क) गंगेश से कुछ ही पूर्व हुए दिवाकर-मणिकंठ-हरिनाथ 13 वीं शताब्दी में विद्यमान थे, जिससे गंगेश का पांडित्य-प्रकर्ष-प्रचार 1325 ए.डी. में हुआ होगा।

(ख) गंगेश का नामोल्लेख करनेवाला प्रथम मैथिल पंडित वटेश्वर का समय 1350–75 ई. था, अतः गंगेश का अंतिम काल 1350 ई. ही होगा।

गंगेश को ओइनिवारवंशीय राजा भवसिंह के राज्यकाल में स्थित माना गया है और उसी समय में गोनू झा की भी अवस्थिति कही गई है[11]। जैसा कि कहा है "Bhavasingha's time was marked with great literary and intellectual fervour. Gonu Jha, a matchless humorist and a man of inexhaustible wits flourished in about the same period. His name has now passed for a household word in Mithila. Moreover, he was a great scholar of his time. In about the same period the great Maithila philosopher Gangesh Upadhyaya also flourished. His 'Nyaya-tattva-chintamani' is an autstanding work on Nyaya, yet unexcelled. Another great name in the realm of philosophy was his son and disciple Vardhamana Upadhyaya."[12] । भवसिंह, राजा कीर्त्तिसिंह (1402 ई.–1410 ई.) के पितामह-भ्राता और उत्तराधिकारी थे। परंतु प.परमेश्वर झा के अनुसार भवसिंह के पौत्र तथा देवसिंह के पुत्र शिवसिंह 1402 ई. में सिंहासनारूढ़ हुए थे[13]। यह समय भले ही कुछ संदिग्ध लगता हो, पर भवसिंह का समय निश्चित ही 1360 ई. मानना पड़ेगा, जिस समय मिथिला के राज्य को लेकर इनको इनके भ्रातृज गणेश्वर ठाकुर के साथ विवाद हुआ था। उसी वर्ष मिथिला का विभाजन भी हुआ था।

गंगेश को मिथिला की परंपरा एवं इतिहास के कई विश्लेषक[14] पंजीनिर्माण के काल में अवस्थित मानते हैं। पंजीनिर्माण का यह कार्य कर्णाटवंशीय राजा हरिसिंहदेव के समय शाके 1232 (सन् 1310 ई.) में हुआ था[15]। 14 वीं शताब्दी के प्रथम चरण में राजा हरिसिंहदेव के मंत्री सप्तरत्नाकरकार चंडेश्वर ठाकुर का समय डॉ.काणे ने बताया भी है[16]।

परंतु कुछ लोग इस बात को नितांत भ्रामक मानते हैं कि गंगेश और धूर्त्तराज गोनू झा पंजीनिर्माण के समय विद्यमान थे । इनके मतमें वे गोनू झा थे पतौना मूल के बीजी-पुरुष म.म.प्रजापति उपाध्यायके बृद्धप्रपौत्र, न कि सोनकरियाममूलक वंशधरके पुत्र। स्मरणीय है कि यही पतौना मूल बादमें 'खौआड़य' कहलाया, जैसा कि सोनकरियाम मूल 'कर्महा' हो गया। इसी प्रकार पंजी-समकालीन गंगेश भी नव्यन्याय प्रवर्त्तक नहीं हैं। कारण पंजी निर्माण के समय गंगेशोपाध्याय की पौत्री के दौहित्र भूले झा विद्यमान थे। पं.रमानाथ झा भी 'परिचयपत्र' स्तम्भ के अंदर "म.म.परमगुरु गंगेश्वर' शीर्षक में लिखते हैं कि गंगेश के पुत्र बर्द्धमान के दामाद शिवनाथ झा के दौहित्र भूले झा (पाखू झाके पुत्र) 1248 शाके में पंजी निर्माण के समय विद्यमान थे । वस्तुतः एक

ही समय में पाँच पीढ़ी का होना, वह भी पंचम पीढ़ी (भूले झा) को प्रतिष्ठित हो जाना जँचता नहीं है। जबकि पंजी निर्माण (1248 शा.) से सौ वर्ष पूर्व (1148 शाके, 1226 ई.) गंगेश का होना अन्य प्रमाणों से भी सिद्ध है।

संदर्भ

1. तत्त्वचि., आनंद झा, भूमिका, पृ.32
2. ज.स्मा.ग्र., पृ.7
3. सं.सा.को., पृ.162, भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास, डॉ.नरेंद्रदेव शास्त्री एवं डॉ.हरदत्त शास्त्री, साहित्यभंडार मेरठ, पृ.181, 1973, भारतीय दर्शन, प्रो.सुरेंद्रसिंह नेगी, के.एल. पचौरी प्रकाशन।
4. मि.त.वि., पृ.90-92
5. भारतीय दर्शन, B.N. Singh पृ.435 ; उमेश मिश्र, पृ.181; डॉ.राधाकृष्णन, भारतीयदर्शन (अनु.) नंदकिशोर गोभिल, पृ.30, राजपाल एंड सन्स, 1986 तथा भारतीय दर्शन, डॉ.नंदकिशोर देवराज, उ.प्र.हिंदी संस्थान, लखनऊ, 1983, पृ.251
6. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृ.173-74 ; डॉ.किशोरनाथ झा—सं.वा.का.वृ.इ. IX, पृ.103; मिथिला का इति., डॉ.रामप्रकाश शर्मा, पृ.520।
7. सं.वा.का.बृ.इ., पृ.78
8. HNNM. p-85-88, 99-104
9. HIP, Vol-II, p.241
10. Materials for the sudy of Navya Nyaya Logic, p. 4-51
11. मिथिलाक इतिहास (प्रो.ठाकुर), पृ.190-91
    मि.त.वि., पृ. 91-92 ; मिथिलाका इति., पृ.267
12. History of Mithila - U. Thakur, p-304-305
13. मि.त.वि., पृ.97
14. मि.की सार.सुषमा, पृ.45
15. शाके श्रीहरिसिंहदेवनृपतेर्भूयार्कतुल्ये जनिः,
    तस्माद्दंतमितेब्दके द्विजगणैः पंजीप्रबंधः कृतः।
    तस्माद्वै द्विजबीजिवंशकलितं यद्विप्रचक्रे पुरा,
    तद्विप्राय समर्पितं सुकृतिने शांताय सर्वार्थिने।।
16. धर्म. का इति., I, पृ.84-85 (डॉ.काणे)।

11

'महामहोपाध्याय' विरुद-विवेचन

पंजी प्रबंध में हमारे चरितनायक गंगेश के लिए 'महामहोपाध्याय' विशेषण किंवा उपाधि का उल्लेख किया गया है। यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है कि क्या उन दिनों यह उपाधि थी ? सामान्यतः इतिहास यही जानता है कि जब 'ईष्ट इंडिया कंपनी' भारत में आई, यहाँ की सत्ता उसने प्राप्त की, उसके बाद ही अंग्रेजी नववर्ष के उपलक्ष में या फिर सम्राट् आदि के जन्मदिवसोत्सव पर अथवा इंग्लैंड में कोई विशेष उत्सव मनाए जाने पर भारत के तत्कालीन सुप्रसिद्ध विशिष्ट पंडितों को, राजा-महाराजाओं किंवा सर्वकारीय प्रतिनिधियों की संस्तुति पर अंग्रेज सरकार के द्वारा यह उपाधि दी जाती थी। यथा—गंगाधर शास्त्री, शिवकुमार शास्त्री, चिन्नस्वामी, पी.वी.काणे, रामावतार शर्मा, गंगानाथ झा प्रभृति के नाम लिए जा सकते हैं। इससे पूर्व गंगेश को यह उपाधि कब और किसने दी ?

पांडित्य सूचक यह सर्वोच्च उपाधि मिथिला में बहुत पहले से चली आ रही है। उसकी शुरुआत कब और किसने की यह कहना कठिन है। पर यह तथ्य निश्चित है कि यहाँ आज से 7-8 सौ वर्ष पहले भी यह उपाधि थी और केवल यहीं थी। अतएव प.गोविंद झा 'अमर अर्चना' (पृ.288) में लिखते हैं कि ''लगभग 1900 ई. तक यह उपाधि केवल मिथिला में चलती रही, अतः पर भारत सम्राट् द्वारा दी जाने लगी और उसके बाद केवल मिथिला में ही सीमित न रहकर समग्र भारत में स्पृहणीय पदवी हो गई''।

जब 1248 शाके (1324 ई.) में महाराज हरिसिंहदेव के समय ब्राह्मणों की पंजी बन रही थी तो पंजीकार पं.रघुदेव झा ने तत्कालीन पंडितों के साथ, जिनकी जो उपाधि थी, उनके नाम के साथ जोड़ दी। जैसे सदुपाध्याय, महोपाध्याय, महामहोपाध्याय आदि। पं.गोविंद झा के अनुसार पंजी में इस काल से पूर्व के किसी व्यक्ति के नाम में महामहोपाध्याय या महोपाध्याय उपाधि लगी हुई कदाचित् ही मिलती है।

पंजी से भिन्न किसी पांडुलिपि में महोपाध्याय उपाधि सर्वप्रथम लक्ष्मण सं.164 (1278 ई.) में मिलती है। पीतू-पाटक मूल के श्रीगिरीश्वर उपाध्याय ने ल.सं. 164 में दिवाकर कृत ग्रंथ की पांडुलिपि तैयार की थी, जिसमें उन्होंने लिखा है—''इति महोपाध्याय दिवाकरकृतो न्यायतृतीयाध्याय-निबंधोद्योतः समाप्तः। देवराज्ये देउला श्रीमत्कटके पीतूपाटकसं-उपाध्याय श्रीगिरीश्वरैः लिखितमिदम्। ल.सं.164 ज्येष्ठ वदि 11''।[1]

इसी प्रकार 12 वीं शताब्दी के एक हस्तलेख में नैयायिक चंद्र उपाध्याय का उल्लेख 'महामहोपाध्याय' उपाधि के साथ प्राप्त होता है—'इतिश्रीमहामहोपाध्याय श्रीचंद्रकृतौ अमृतबिंदुर्नाम प्रकरणं समाप्तम्।''[2]

ब्रिटिश राज्य की स्थापना के बाद पंडितों या समाज के हाथ से यह उपाधि देने का कार्य भारत सरकार के हाथ में आ गया और 'महामहोपाध्याय' की उपाधि Royal Titles Act, 1867 में समाविष्ट कर ली गई। सरकार की ओर से सर्वप्रथम यह उपाधि कलकत्ता संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल, बंगाल के दार्शनिक-मूर्धन्य प.महेशचंद्र न्यायरत्न को दी गई[3]। जो उपाधि आज तक मैथिल पंडितों की संस्तुति पर राजा-महाराजाओं के द्वारा या समाज के द्वारा मैथिल पंडितों को ही दी जाती रही, अब अखिल भारतीय और सर्वकारीय हो गई। रायबहादुर, रायसाहब, KCIE आदि उपाधियों के साथ 'महामहोपाध्याय' को भी विशिष्ट उपाधियों में सम्मिलित करना मिथिला के लिए असाधारण गौरवाधायक था।

अति प्राचीन काल में यह उपाधि समाज में स्वतः प्राप्त हो जाती थी। किसी के द्वारा दी जानेवाली नहीं होती। जो विद्वान् पहले अध्यापन-निपुण हुआ करते थे, वे 'उपाध्याय' अथवा 'सदुपाध्याय' कहलाते थे। जिनके जीवनकाल में ही शिष्य 'सदुपाध्याय' बन जाते थे, तो वे 'महोपाध्याय' कहलाने लगते थे और जिनके जीवन काल में शिष्य महोपाध्याय हो जाते थे, वे महापंडित 'महामहोपाध्याय' कहलाने लगते थे। यही पहले की परिपाटी थी, जो बाद में राजाओं के द्वारा दी जाने लगी।

उन दिनों यह उपाधि मिथिला में केवल दार्शनिकों को ही दी जाती थी, वह भी ऐसे दार्शनिकों को, जिनका न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र—तीनों में अद्वितीय पांडित्य हुआ करता था। इसीलिए प.झा लिखे होंगे ''1300 ई. से लेकर 1800 ई. तक अधिकतर ऐसे ही महामहोपाध्याय मिलते हैं, जिनका परस्पराश्रित इन तीनों शास्त्रों में प्रवेश था''। वस्तुतः अन्य शास्त्रवालों के लिए तो ज्यौतिर्विद्, वैयाकरण, वैदिक, नैयायिक आदि रूपक विशेषण ही दिखाई देते हैं। नाटककार हरिहर के संबंध में लिखते हुए भक्तिनाथ झा ने कहा है—''हरिहर केवल कवि नहीं थे—इसका प्रमाण पंजी में उल्लिखित

इनकी महामहोपाध्याय पदवी है, जो उस समय न्याय, मीमांसा तथा धर्मशास्त्र के पढ़ने पर प्राप्त होती थी[4]।

अतः गंगेश को भी यह उपाधि उनके इन शास्त्रों में प्रवीणता के लिए ही दी गई होगी। वे न्यायादि शास्त्रों में निष्णात थे इसका संकेत तो मंगलपद्य से भी चल जाता है।

संदर्भ

1. एशि.सोसाइटी.कलकत्ता, हस्तलेख सं.4770
2. दिनेशचंद्र भट्टाचार्य, HNNM, P.67
3. श्री अमर अर्चना, दरभंगा, पृ.292
4. कृ.मा.चि., पृ.185

12

गंगेश : परिवार और जनश्रुति

प. राजेंद्रनाथ घोष[1] के अनुसार गंगेश को पिता का बात्सल्य वाल्यकाल में ही उठ गया, फलतः उनका लालन-पालन मामा के घर में ही हुआ। वहाँ उनका मन लिखने-पढ़ने में बिलकुल नहीं लगता था, जिसके फलस्वरूप वे दुर्वृत्ति में पड़ गए। इसकी पुष्टि अन्य लेखों से भी होती है, जहाँ कहा गया है कि 'गंगेश कालिदास की भाँति पहले मंद-बुद्धि के थे, बाणभट्ट की भाँति अबारे बच्चों की असंगति में पड़े थे। बचपन में ही पिता के असामयिक निधन के कारण पहले गंगेश अपनी विधवा माँ के संरक्षण में अपने पैतृक गाँव में ही रहे, पर माँ की ममता भी अधिक दिनों तक बालक पर रह न सकी। चाचा और निकट के पारिवारिक किसी संबंधी के अभाव में बालक गंगेश अपने मामा के घर करियन आ गए या यों कहें कि स्वयं मामा ही उन्हें अपने साथ अपने गाँव ले आए। मामाजी मातृ-पितृविहीन इस बच्चे को बड़े ही लाड़-प्यार से रखते थे[2]।

मामाजी बहुत बड़े पंडित थे, अपने गाँव में विद्यालय चलाया करते थे। घोष साहब के अनुसार वे अपने भागिनेय को संयत और सुशिक्षित बनाने में स्वयं को असमर्थ पाकर प्रतिदिन विद्यालय के कोने में ही बैठे रहने को कहने लगे। प्रत्यह वह मामा के साथ विद्यालय तो आता था पर वहीं एक कोने में बैठा रहता था। वर्धिष्णु चंद्र के समान धीरे-धीरे वह यौवन में तो पहुँच गया, पर रहा निरक्षर ही।

कोई एक घटना ही मानव को महामानव बना देती है, व्यक्ति को युगावतार सिद्ध कर देती है। जिस प्रकार वाल्मीकि, बुद्ध, कालिदास, बाणभट्ट प्रभृति को मात्र एक छोटी-सी दिखनेवाली घटना ने काया-पलट कर दी, उसी प्रकार हमारे चरितनायक गंगेश का भी एक घटना-विशेष से सबकुछ बदल गया।

बालक गंगेश के सामने ही इनकी मामी अपने बच्चे को काफी कुछ खाने-पीने को देती थी, अच्छा व्यवहार भी करती थी, पर इसके साथ ऐसा कुछ नहीं होता था।

यद्यपि वह अपने समवयस्क साथियों में सर्वाधिक मतिमंद और अबंड था, फिरभी वाचाल और निर्भीक था। अपने प्रति मामी के व्यवहार से दुःखी होकर उसने मामा से मामी की शिकायत कर दी। पति से मिली डाँट और ताड़ना से मामी बदल तो गई, पर अंदर ही अंदर उसे मजा चखाने का भी सोच रही थी।

एक दिन मामा कहीं बाहर गए हुए थे, उसी दिन गाँव में किसी की मृत्यु हो गई। रात में मामी ने कहा 'यदि तुम आज श्मशान से आग ले आओ तो तुम्हारा कल्याण होगा'। बालक तैयार हो गया। मामी ने उसे तरह-तरह की बातें कहकर डराया, तो भी वह निडर और साहसी बालक अपनी भलाई के आगे डरा नहीं। तब मामी ने उसे 'तारा-तारा' जपते-जपते जाने की सलाह दी । मासूम गंगेश अपनी मामी की चाल से अनजान, लक्ष्य पाने के उद्देश्य से श्रद्धा और आत्मबल के साथ 'तारा-तारा' जपते-जपते चला जा रहा था। रास्ते में उसे यह पता ही न चला कि यही 'तारा-तारा' कब 'राता-राता' में परिवर्तित हो गया।

जब वह श्मशान पहुँचा और आग लेने ही लगा कि वाकई एक चमत्कार हुआ। भगवती तारा सशरीर उसके सामने खड़ी हो गई, वह इसकी अटल निष्ठा और भक्ति से, अपने लक्ष्य को पाने की लगन से बहुत प्रभावित हुई। उसने इसे गोद में उठाया, दुग्ध-पान कराया और अंतर्धान हो गई। उसको कुछ समझ में आता, वह कुछ बोल पाता कि तब तक तो सबकुछ हो चुका था। आग लेकर जब वह घर लौटा तो मामाजी भी आ चुके थे। मामा बालक गंगेश की प्रतिक्षा में थे कि कहाँ गया, क्यों गया आदि कई तरह की भावनाएँ उनके मन में आती और तिरोहित हो जाती । मामी अनजान बनी, अपने पति के ही हाँ में हाँ करती जा रही थी कि तभी गंगेश को देख मामा ने क्रोधावेश में पूछा—'कहाँ गए थे, इतनी रात को?' उत्तर पाकर फिर मामा ने वही कहा जो उसे कई बार पहले भी कह चुके थे—'गाय कहीं का।'

पर आज का 'गंगेश', पहले का 'गंगेश' तो था नहीं कि मामा से 'गाय' और 'पशु' शब्द अपने लिए सुनकर भी चुप रहता। उसने 'गोत्व' को 'गो' शब्द का प्रवृत्ति-निवृत्ति बतलाते हुए कहा कि जिसमें गोत्व रहता है, उसी के लिए 'गो' शब्द का प्रयोग करना चाहिए। मेरे अंदर तो 'गोत्व' है नहीं, बल्कि 'मनुष्यत्व' या 'ब्राह्मणत्व' है। यदि इसे औपचारिक प्रयोग मात्र मान लें तो फिर आप भी 'गो' शब्द के वाच्य क्यों नहीं?

"किं गवि गोत्वमुतागवि गोत्वं
चेदगवि गोत्वमनर्थकमेतत्।
भवदभिलषितमगोरपि गोत्वं
भवतु भवत्यपि संप्रति गोत्वम्।।"[3]

यही कथा कुछ प्रकारांतर से भी पाई जाती है कि एक दिन अमावस्या की संध्या में गाँव के कुछ मनचले युवक एक स्थान में एकत्रित होकर खेल-कूद एवं स्वभाव-सुलभ हास-परिहास में संलग्न हो गए। इसी में किसी ने साहस-परीक्षण के उद्देश्य से मध्यरात्रि में जाकर श्मशानस्थ एक वृक्ष की निर्दिष्ट शाखा में स्याही से कुछ चिन्ह बनाने का प्रस्ताव किया। भयाक्रांत होकर किसी ने यह कार्य करने का साहस जुटा नहीं पाया तो गंगेश तैयार हो गया। उसने रात में एक छात्र की स्याही-दानी लेकर चुपके से श्मशान की ओर चल पड़ा। वहाँ जाकर पूर्व निर्धारित शाखा में चिन्ह करने के बाद डर के मारे वह मूर्च्छित हो गया। इससे पहले वह भगवती काली का नामोच्चारण करता रहा। मूर्च्छा से जब वह प्रबोध में आया तो भगवती काली की असीम कृपा से उसे दिव्यज्ञान प्राप्त हो चुका था। उसे किसी प्रकार का भय या संदेह नहीं रहा। वह मन ही मन कुल-देवता की स्तुति करते हुए अत्यंत प्रसन्न होकर अपने दल के युवकों के पास लौट आया। वे सब गंगेश से उसकी अनुभूति पूछने लगे, पर प्रशांत गंभीर मुखमंडल को देख विस्मय करते हुए पुनः किसी को यह साहस न हुआ कि गंगेश से दुबारा कुछ पूछें।

दूसरे दिन प्रातः काल गंगेश पहले की भाँति विद्यालय के कोने में बैठे थे। एक विद्यार्थी, जिसकी स्याही-दानी गुम हुई थी, स्याही-दानी की खोज में गंगेश के पास आया तो उसने निःसंकोच यह मान लिया कि मैंने लिया जरूर था, पर वह गिरकर टूट गया। दवात के टूटने से दुःखी उस छात्र ने गंगेश के अध्यापक मामा से उसकी शिकायत की। अध्यापक ने गंगेश के प्रति तिरस्कार भावना से यह कहते हुए कि "छोड़ो वह तो गाय है, उससे कुछ कहकर भी लाभ क्या होगा, तुम्हीं सह लो"।

मामा के इस तिरस्कार भरी बात को सुनकर गंगेश ने मृदु-मुस्कान भरते हुए वह नवीनतम श्लोक कहा था—'किं गवि गोत्वं'। कथांतर की भाँति इस श्लोक का पाठांतर भी पाया जाता है, यथा—

"किं गवि गोत्वं किमगवि गोत्वं
यदि गवि गोत्वं मयि नहि तत्त्वम् ।
अगवि च गोत्वं यदि भवदिष्टं
भवति भवत्यपि संप्रति गोत्वम् ।।"

अपने भागिनेय के इस अप्रत्याशित एवं सयुक्ति पद्यात्मक उत्तर को सुनकर मामाजी क्षण भर के लिए अवाक् रह गए। फिर उन्होंने गंगेश से कहा कि "बोलो बोलो, फिर से कहो, क्या कहा ?" पुनः गंगेश के द्वारा 'किं गवि गोत्वं' इत्यादि पद्य सुनकर, मामा के आँखों में आँसू भर आए, उसने अपने भागिनेय को गले लगाया और अपनी सारी विद्या उड़ेल दी[4]।

राजेंद्रनाथ घोष ने 'बंगला-विश्वकोष' के आधार पर एक और कथा को उद्धृत किया[5] है कि गंगेश का जन्म बंगाल के एक अति दरिद्र ब्राह्मण परिवार में हुआ था। माता-पिता ने पुत्र को पढ़ने-लिखने की ओर अरुचि देखकर उसके मामा के घर भेज दिया। उसके मामा बड़े विद्वान् थे, जो अपने घर पर ही विद्यालय चलाते थे। उन्होंने इसे प्रबुद्ध बनाने का भरपूर प्रयास किया, पर सफलता न मिल पाई। पढ़ने में उसका मन नहीं लगता था, खेल-धूप करना और अपने समवयस्क लड़कों की बात मानना उसे अच्छा लगता था।

एक दिन किसी छात्र ने रात को तंबाकू पीने हेतु उसे कहीं से भी आग लाने को कहा। जब आस-पास कहीं आग न मिली तो उसे दूर भी जाना पड़ा । पर रास्ते में उसे यह ग्लानि हुई कि न पढ़ने के कारण ही उसे इस प्रकार का अपमान सहना पड़ रहा है। इतनी गहरी रात में महज आग के लिए उसे दूर तक जाना पड़ रहा है। इतने में ही उसने मार्ग से कुछ हटकर एक स्थान पर किसी योगी को ध्यान करते देखा। वहाँ जाकर वह बड़े ही दीन भाव से बैठ गया । जब योगी की आँखें खुली तो उन्होंने इससे परिचय पूछा और इतनी रात में आने का कारण भी। गंगेश रोते-रोते सारी बातें बता दी। योगी को दया आ गई, उसने इसके माथे पर हाथ फेरा और साथ लेकर कहीं चला गया।

जब कई दिनों तक वह मामा के घर नहीं लौटा, तो सब दुःखी और बेचैन हो गए। योगी की असीम कृपा और अलौकिक शक्ति से जब गंगेश कुछ दिनों बाद लौटा तो पहले से दुःखी मामा ने उसे क्रोधावेश में आकर 'गौस्त्वम्' कहा अर्थात् तुम बैल हो। फिर वही 'किं गवि गोत्वम्'।

ये सब कथानक लोकप्रवाद पर ही आधारित हैं, तथापि 'नह्यमूला प्रसिद्धिः' के न्याय से इसमें कुछ न कुछ सत्यता तो होगी ही। न्यायशास्त्र भी कहता है कि 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः' 'बिना आग का धूआँ नहीं उठता'। साथ ही अपने ग्रंथ के मंगलाचरण में दी गई गंगेश की उक्ति 'चिंतादिव्य-विलोचनेन' भी इनके किसी दिव्यज्ञान की ओर संकेत करती है[6]।

एन.एस. रामानुजताचार्य लिखते हैं "गंगेशस्य एकः पुत्रः एका पुत्री च आस्तामिति केचित्। अन्ये तु गंगेशस्य द्वे पत्नी अभूताम्। ज्येष्ठपत्न्यां पुत्र एको वर्धमाननामा, एका पुत्री च उदपद्येताम्। द्वितीयायां पत्न्यां सूपनहरिनामकौ द्वौ सुतौ अजनिषातामिति वदन्ति"[7]। वस्तुतः पंजी से भी यह सिद्ध है कि गंगेश की दो पत्नी थी, एक से वर्धमान और एक पुत्री हुई तथा दूसरी पत्नी से दो पुत्र सूपन एवं हरि नाम के उत्पन्न हुए। परंतु दुर्भाग्य यह है कि तीन-तीन पुत्रों के पिता का वंश आज अवरुद्ध है, किसी में संतति नहीं। हाँ, स्वयं गंगेश सहित वर्धमान, सूपन और हरि की पुत्रियों की संतति का पता पंजी अवश्य देती है।

गंगेश न्याय-वैशेषिक के साथ-साथ मीमांसा के भी बड़े निविष्ट विद्वान् थे, जिसका परिचय हमें उनकी तत्त्वचिंतामणि से तो चल ही जाता है, बल्कि उनके पुत्र वर्द्धमान ने भी कुसुमांजलिप्रकाश में स्पष्ट लिखा है—

"न्यायाम्भोजपतंगाय - मीमांसापारदृश्वने।
गंगेश्वराय गुरवे पित्रेऽत्र भवते नमः।।"

इनके पिता गिरीश्वर उपाध्याय यद्यपि अल्पायु हुए, एक ही संतान 'गंगेश' हुए थे कि उनका देहांत हो गया। पर वे अच्छे वैयाकरण थे, अतएव उनका उपसर्गों के द्योतकत्व पर दृढ़ होना स्वाभाविक था। गंगेश इतने बड़े तार्किक होने के बाद भी इस पक्ष में अपने पिता का जो समर्थन किया है, उससे लगता है कि वह मात्र अपने पूज्य पिता का आदर ही किया है। अन्यथा वे यह कैसे लिखते कि—"उपसर्गा द्योतकाः न वाचकाः। द्योतकत्वंच धातोरर्थविशेषे तात्पर्यग्राहकत्वं, तदुपसंदानेन तत्र शक्तिर्वा।।" .... वे वेदांत के भी मर्मज्ञ विद्वान् थे, तभी तो कई स्थलों पर श्रीहर्ष के सिद्धांतों को अपने दृष्टिकोण से निरस्त किया है।

संदर्भ

1. व्याप्तिपंचक, बंगानुवाद की भूमिका तथा आनंद झा कृत त.चि.भूमिका में, KSDSU, p.29
2. सारस्वतसुषमा, पृ.196-97 में इनका मात्रिक 'मंगरौनी' कहा गया है।
3. सारस्वतसुषमा, पटना, पृ.196-97 तथा 'बालकथाकौमुदी', संपा.—डॉ. विश्वास, उ.प्र.संस्कृतसंस्थान, लखनऊ में प्रकाशित लेख, पृ.62 के आधार पर, 2001 ई.।
4. त.चि.की भूमिका, संपा., आनंद झा, KSDSU, पृ.29-30 के आधार पर ।
5. व्याप्तिपंचक, बंगलानुवाद की भूमिका में।
6. HIP, part II, डॉ.उमेशमिश्र, त.चि. (भूमिका) तिरुपति, NSR ताताचार्य ।
7. त.चि., तिरुपति, भूमिका, पृ.16, 1973

13

वर्द्धमान उपाध्याय

वर्द्धमान उपाध्याय, गंगेशोपाध्याय की प्रथम पत्नी से समुत्पन्न ज्येष्ठ पुत्र थे। इनकी एक सोदर-बहन और दो वैमात्रेय भाई भी थे, सूपन उपाध्याय और हरि उपाध्याय। परंतु दुर्भाग्य यह कि तीनों ही भाई पुत्र-संतति से हीन हुए। इनमें वर्द्धमान को मात्र एक पुत्री हुई, जिसकी शादी एकमा-खंडवलामूल में शांडिल्यगोत्रीय विश्वनाथसुत शिवनाथ से हुई थी। इसमें वर्धमान को तीन दौहित्र हुए चंद्रकर, बलभद्र और शोभा। जैसा कि पंजीप्रबंध में उल्लिखित है—'एकमा-खंडवलासं विश्वनाथ सुत-शिवनाथसुताः चंद्रकर-बलभद्र-शोभाकाः छादनसं उपायकारक महामहोपाध्याय वर्द्धमानदौ'[1]। प.रमानाथ झा के अनुसार वर्धमान का उपनाम 'बाढ़ू झा' था और इनके दौहित्री पति (शिवनाथ झा के जमाता) पाखू झा के पुत्र भूले झा पंजीनिर्माण के समय 1248 शाके में विद्यमान थे। अतएव बाढ़ू झा (वर्धमान उपाध्याय) को अमूनन 1148 शाके (1226 ई.) में रखा जा सकता है[2]। इसके विपरीत 'न्यायपरिचय' की भूमिका (टिप्पणी में) म.म.फणिभूषण तर्कवागीशजी 14 वीं शताब्दी में अवस्थित प्रभाकार यज्ञपति उपाध्याय को गंगेशोपाध्याय का पौत्र कहते हैं। साथ ही व्याप्तिपंचक के बंगानुवाद की भूमिका में राजेंद्रनाथ घोष ने भी यज्ञपतिको वर्धमान का पुत्र माना है। इसके प्रमाणरूप में उन्होंने बंगीय प्रतिष्ठित नैयायिक समुदाय के बीच प्रचलित प्रवाद को ग्रहण किया है । संभव है तर्कवागीशजी का भी प्रमाण यही रहा हो। स्मरणीय है कि तत्त्वचिंतामणि के प्रभाटीकाकार उक्त यज्ञपति उपाध्याय, मांडरवंशीय शिवपति के पुत्र थे और इनके पितामह का नाम पशुपति था। पशुपति उपाध्याय, वर्धमान के शिष्य किंवा उनके कनिष्ठ समसामयिक रहे वटेश्वर उपाध्याय (वटेश) के पुत्र थे।

किसी-किसी के मत में आप पक्षधर मिश्र के सहपाठी थे[3], तो किसी के मत में उनके ज्येष्ठ समसामयिक। पर किसी ने तो आपको उनसे और अधिक प्राचीन माना है। संभव है वर्धमान त्वन्त्वोपाध्याय, वटेशोपाध्याय, घटेशोपाध्याय और गंगादित्य के

गुरु रहे हों; जिनके ग्रंथ तो आज उपलब्ध नहीं होते, पर परवर्ती ग्रंथों में उनके नामों की चर्चा और उद्धरण प्राप्त अवश्य होते हैं।

इन्हें किसी ने मंगरौनी का वासी माना है[4] तो किसी ने देकुली ग्राम का[5]। जबकि इनका निवासस्थान 'छादन' था। पितृमरणोपरांत अथवा अपने चरमायु में वर्धमान छादन से कुछ हटकर अपना निवास बना लिया हो, जो आज उन्हीं के नाम से 'बधमा' के रूप में जाना जाता है। छादन के अनतिदूर पर ही अवस्थित ग्राम 'सुपना' इनके वैमात्रेय भाई का निवास स्थान था।

किसी लेखक ने वर्धमान को गंगेश का निकटवर्ती स्वजन मात्र कहा है[6], जबकि ये उनके पुत्र थे। ये अपने पिता गंगेशोपनामक गंगेश्वर के छात्र भी थे, जैसा कि इन्होंने स्वयं लिखा है—

''न्यायाम्भोजपतंगाय मीमांसापारदृश्वने ।
गंगेश्वराय गुरवे पित्रेऽत्र भवते नमः ।।''

उन्होंने उदयनाचार्य के प्रायः सभी ग्रंथों पर 'प्रकाश' नामक व्याख्या की रचना की है और इनकी सभी प्रकाश-व्याख्याओं पर महाराज महेश ठाकुर के अग्रज मेघठक्कुरोपनामक भगीरथ ठक्कुर ने 'जलद' नामकी टीका लिखी। इनके बनाये ग्रंथ हैं—कुसुमांजलि-प्रकाश, किरणावली-प्रकाश, तात्पर्य-परिशुद्धि पर न्यायनिबंध-प्रकाश, आत्मतत्त्वविवेकप्रकाश, न्यायपरिशिष्टप्रकाश, श्रीवल्लभाचार्य[7] कृत न्यायलीलावती पर 'प्रकाश', केशवमिश्रकृत 'तर्कभाषा' पर 'प्रकाश', श्रीहर्षकृत खंडनखंडखाद्य पर प्रकाश तथा खंडनोद्धार।

स्वतंत्र रूप से लिखे गए 'अन्वीक्षानयतत्त्वबोध' नामक न्यायसूत्रवृत्ति को भी कुछ लोग इन्हीं की रचना मानते हैं, और कुछ दूसरे वर्धमान की, जिसका उल्लेख रामचंद्र सार्वभौम ने अपने न्यायरहस्य में तथा अभिनव वाचस्पति मिश्र ने अपने न्यायतत्त्वालोक में किया है। उपर्युक्त कृति 'खंडनोद्धार' यद्यपि अनुपलब्ध है, परंतु उसका भी उल्लेख न्यायतत्त्वालोक में पाया जाता है और इसी को आधार बनाकर वाचस्पति और शंकर मिश्र ने क्रमशः 'खंडनोद्धार' तथा 'भेदसिद्धि' की रचना करके अद्वैत मत का खंडन किया था। स्मरणीय है कि वर्धमान का 'खंडनोद्धार' भी अद्वैतवेदांत के खंडन स्वरूप ही लिखा गया था। राजेंद्रनाथ घोष के अनुसार वर्धमान ने खंडनखाद्यपर कोई व्याख्या लिखी थी, पर वह न तो उपलब्ध है और न उसकी अन्यत्र कहीं चर्चा सुनी जाती है। परंतु उन दिनों उस ग्रंथ की आलोचना की परंपरा थी, पठन-पठन की व्यवस्था थी, अतः संभव है कि उन्होंने उस पर टीका भी लिखी हो। जबकि वर्धमान

की रचनाओं में खंडनखंडखाद्यप्रकाश के साथ-साथ तर्कभाषा प्रकाश की मातृकाएँ भी मातृकागारों में सुरक्षित हैं, हाँ आत्मतत्त्वविवेक प्रकाश अवश्य ही अनुपलब्ध है। परंतु इस ग्रंथ के अस्तित्व का प्रमाण है पद्मनाभमिश्रकृत 'सेतु' व्याख्या, जिसमें उन्होंने बौद्धधिक्कार-प्रकाश (आ.त.वि.प्र.) पर की गई बलभद्र मिश्र कृत उपटीका का उल्लेख किया है।

वर्धमानकृत 'तात्पर्यपरिशुद्धिप्रकाश' (अपर नाम न्यायनिबंधप्रकाश) पर परवर्ती विद्वान् म.म.शंकर मिश्र ने जहाँ 'न्यायतात्पर्यमंडन' की रचना की, वहीं पद्मनाभमिश्र ने 'वर्धमानेंदु' टीका लिखी है। उदयनाचार्य की 'प्रबोधसिद्धि' (न्यायपरिशिष्ट) पर जो व्याख्या वर्धमान ने बनाई, उसका नैयायिक समाज में बड़ा ही विशेष सम्मान था, और उन दिनों परम विवेचनीय ग्रंथ माना जाता था, जिसमें न्यायदर्शन के पंचम अध्यायगत विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है। पक्षधर मिश्र के समान महानैयायिक ने जहाँ अपनी आलोक टीका में 'यत्तु परिशिष्टप्रकाशे महामहोपाध्यायचरणाः' करके उनके प्रति सम्मान व्यक्त किया है, वहीं अमृतोदय नाटक में म.म.गोकुलनाथोपाध्याय ने कहा है 'एवं परिशिष्टप्रकाशकृद् बुधो वर्धमानः'।

एक लेखक ने कहा है कि ''देवानंदपंजी में वर्धमान को 'उपायकारक' लिखा गया है, जिससे प्रकट होता है कि उनका कोई ग्रंथ 'उपाय' शीर्षक से भी रहा होगा''[8], जबकि डॉ.किशोरनाथ झा के अनुसार ''इन्होंने यद्यपि अपनी व्याख्या का नाम 'प्रकाश' रखा है, तथापि नैयायिक समाज में वह 'उपाय' नाम से अधिक विख्यात है। अतएव परवर्ती न्यायग्रंथों में 'उपायकार' के रूप में इनका परिचय मिलता है''[9]।

वर्द्धमान ने इतनी टीकाओं की रचना की, पर उन्होंने अपने पिता की तत्त्वचिंतामणि पर टीका नहीं की। इसके कारण पर प.आनंद झा जी लिखते हैं कि गंगेश के सुदीर्घजीवी होने के कारण उनका ग्रंथ उतना सुव्यवस्थित और सुप्रतिष्ठित नहीं हो पाया था, जितना कि उदयन और श्रीवल्लभ के ग्रंथ थे। अतः वर्धमान ने इन दोनों की कृतियों पर तो टीका लिखी, पर अपने पिता गंगेश कृत तत्त्वचिंतामणि पर नहीं[10]। जबकि डॉ.किशोरनाथ झा के मत में ''यद्यपि तत्त्वचिंतामणि पर इनकी अपनी व्याख्या उपलब्ध नहीं है, तथापि आचार्य उदयन तथा श्रीवल्लभ आदि की कृतियों पर की गई इनकी व्याख्याओं में तत्त्वचिंतामणि के सिद्धांतों का परिष्कार एवं प्रचार देखा जाता है। इनकी शैली है कि ग्रंथ के प्रासंगिक अभिप्राय को समझाकर 'अस्मत्पितृचरणास्तु' कहकर स्वतंत्र रूप से ये अपनी लंबी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, जहाँ तत्त्वचिंतामणि के वक्तव्यों का ही परिष्कार रहता है। तत्त्वचिंतामणि का प्रत्येक प्रतिपाद्य-विषय यथा-प्रसंग इनकी व्याख्याओं में अवश्य समाहित हुआ है''[11]। इससे प्रतीत होता है कि वर्धमान ने अवश्य ही तत्त्वचिंतामणि पर भी टीका लिखी होगी।

पं. ताताचार्यजी 'तत्त्वचिंतामणिप्रकाश' की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि वह व्याख्या वाराणसी सरस्वती भवन की हस्तलेख सूची में निर्दिष्ट है[12]। उन्होंने यह भी कहा है कि कुछ लोग इस व्याख्या का अस्तित्व मानते हैं और कुछ नहीं, अतएव डॉ. उमेश मिश्र का यह मानना सही है कि इस व्याख्या का अन्वेषण अपेक्षित है[13]।

हमारे इस गंगेशात्मज वर्धमान उपाध्याय के अतिरिक्त भी मिथिला में दो वर्धमान और हुए हैं, जिनमें एक 'मिश्र' आस्पद के थे और दूसरे 'उपाध्याय'। एक का समय 15 वीं शताब्दी का मध्यभाग था तो दूसरे उनके पूर्ववर्ती, बल्कि सर्वाधिक प्राचीन। ये बारहवीं शताब्दी में राजा गंगदेव और उनके भाई मल्लदेव के आश्रित थे। इन्हीं के नाम पर गंगेश ने अपने पुत्र का नामकरण किया होगा। इन दोनों वर्धमानों का परिचय अनावश्यक जानकर नहीं दिया जा रहा है। परंतु इतना ज्ञातव्य है कि इनमें से एक भवेश उपाध्याय के पुत्र नारी-भदौन ग्राम के निवासी, भारद्वाज गोत्रीय थे और दूसरे म.म.माधव मिश्र के पुत्र वत्सगोत्रीय बलाइन ग्रामवासी।

संदर्भ

1. देवानंदपंजी, पत्र सं.30
2. 'स्वदेश' मासिक, दरभंगा, प्रथमांक (जनवरी, 1948 ई.)
3. ज.स्मा.ग्र., पृ.7
4. ज.स्मा.ग्र., पृ.7 पर जनसीदनजी
5. मिथिलांक, पृ.92 में त्रिलोकनाथ मिश्र
6. मिथिला की सारस्वत सुषमा, पृ.49
7. त.चि की भूमिका, पृ.36 पर प.आनंद झा ने श्रीवल्लभाचार्य को गोवर्धनाचार्य का भाई और बलभद्राचार्य से अभिन्न कहा है, यह चिन्त्य है।
8. मिथिला की सार.सुषमा, पृ.49
9. सं.वा.का.बृ.इ. IX, पृ.106
10. त.चि. (भूमिका), पृ.36
11. सं.वा.का.बृ.इ. IX, पृ.106
12. त.चि. (भूमिका), पृ.18 (Cat.Skt.MSS., p.193)
13. HIP, p.276-277

14

नव्यन्याय और तत्त्वचिंतामणि

गंगेश से पूर्व विरचित न्यायशास्त्रीय ग्रंथ प्राचीन न्याय के नाम से जाने जाते हैं, उन ग्रंथों पर विरचित वृत्ति या टीका भी प्राचीन न्याय के ग्रंथ कहलाते हैं। जबकि गंगेश की तत्त्वचिंतामणि से लेकर परवर्ती सभी न्यायशास्त्रीय ग्रंथ नव्यन्याय के रूप में व्यपदेशित होते हैं। आख़िर, एक ही शास्त्र के ग्रंथों के साथ ऐसा क्यों हुआ ? इस प्रश्न के समाधान में कुछ लोगों का यह तर्क है कि चूँकि बाद की रचनाओं में अवच्छेदकावच्छिन्न आदि शब्दों के बाहुल्य से उसे नव्यन्याय का नाम दिया गया। वस्तुत: गंगेश पूर्व सभी ग्रंथ प्रमाणादि षोडश पदार्थों का विस्तार के साथ विवेचन करते हैं और गंगेश ने उस धारा को छोड़ केवल प्रमाण की विवेचना में ही अपनी शक्ति लगा दी है। इसी कारण उस ग्रंथ को नव्यन्याय की संज्ञा दी गई। प्राचीन न्याय सभी पदार्थों का विवेचकशास्त्र होने के कारण 'पदार्थशास्त्र' कहलाता है, जबकि नव्यन्याय मात्र प्रथम पदार्थ 'प्रमाण' का विवेचन करता है, जिस कारण इसे 'प्रमाणशास्त्र' कहा जाता है। इसने 'प्रमेय' को भी आनुषंगिकतया 'प्रमाण' ही मान लिया है, जिस कारण इसका मुख्य प्रतिपाद्य 'प्रमाण' हो गया है। इस ग्रंथ की विवेचना-सरणि भी प्राचीन ग्रंथों की तुलना में विलक्षण और नवीन होने के कारण 'नवीन' या 'नव्य' शब्दों से व्यपदेशित किया गया। प्राचीन नैयायिकों के सिद्धांतों का यथास्थल युक्तिपूर्वक खंडन किए जाने से भी इसे 'नव्यन्याय' की संज्ञा दी गई, जो इसकी अन्वर्थ संज्ञा भी है।

नव्यन्याय में 'नव्य' और 'न्याय'—ये दो शब्द हैं, जहाँ कर्मधारय समास विवक्षित मानने से विशेष्यवाचक और विशेषण वाचक दोनों पद विभिन्नार्थक होते हुए भी वक्ता के अभिप्रायानुसार एक ही वस्तु को बतलाते हैं । इस प्रकार 'नव्य जो न्याय है, वही नव्यन्याय है' ऐसा अर्थ बनता है।

न्यायदर्शन के क्षेत्र में गंगेश का अपना अलग महत्त्व है, उनकी अलग प्रतिष्ठा और पहचान है, जो अपर गौतम के नाम से जाने जाते हैं। गौतम का न्याय 'पदार्थ

मीमांसा' के नाम से जाना जाता है, 'पदार्थ न्याय' कहलाता है और वह मुक्ति का उपलब्ध मूलक है। जबकि 'प्रमाण मीमांसा' या 'प्रमाणन्याय' उपनामक गंगेश का 'नव्यन्याय' तर्क प्रधान शास्त्र है। आधुनिक वैज्ञानिकयुग में यही तर्क प्रधानशास्त्र अधिक प्रचलित और मान्य है । वैसे तो दोनों न्यायों का ढंग, प्रतिपादन शैली विशुद्ध वैज्ञानिक है, जिनकी विषय-विवेचन-पद्धति दुर्गम एवं नितांत पारिभाषिक हैं।

जिस प्रकार गौतम से पहले न्याय दर्शन के विचार और पदार्थ उपलब्ध थे, कणाद से पहले वैशेषिक-तत्त्व और जैमिनि से पहले मीमांसा दर्शन के सिद्धांत पाए जाते थे, फिर भी उसे व्यवस्थित दर्शन की प्रतिष्ठापना का श्रेय इन्हीं महामनीषियों को दिया जाता है, उसी प्रकार उदयनाचार्य, शशधराचार्य, तरणि मिश्र एवं मणिकंठ मिश्रों की रचनाओं में नव्यन्याय का स्वरूप देखे जाने पर भी इस नवीन शास्त्र को प्रतिष्ठापित करने का श्रेय हमारे चरित नायक आचार्य गंगेशोपाध्याय को ही जाता है।

अध्यापक राजेंद्रनाथ घोष ने नव्यन्याय के आदि प्रवर्त्तन का श्रेय 'सप्तपदार्थी' ग्रंथ के रचयिता उदयनाचार्य के पूर्ववर्ती और दशमशताब्दी के नैयायिक व्योम-शिवाचार्य (?) को दिया है। जबकि स्वयं उन्होंने यह भी माना है कि कुछ लोगों के अनुसार व्योमशिव (?) की 'सप्तपदार्थी' और उदयन की 'लक्षणावली' नव्यन्याय के ग्रंथ नहीं हैं, अतः तत्त्वचिंतामणि को ही नव्यन्यायशास्त्र की प्रथम रचना मानी जानी चाहिए। पर घोषमहोदय का यह कहना अवश्य ही समीचीन और तथ्य परक लगता है कि गौतमीय न्याय और काणादीय वैशेषिक दर्शन के योग से इस नव्यन्याय शास्त्र की उत्पत्ति हुई है।

गंगेश के द्वारा नव्यन्याय का प्रवर्त्तन करने के बाद यह शास्त्र पंडित मंडली में इतना लोकप्रिय हुआ कि एक के बाद एक करके अनेक ग्रंथ लिखे गए। इस विषय में जो गौरव नव्यन्याय को मिला, वह किसी अन्य दर्शन को नहीं।

नव्यन्याय का यह अक्षयवट मिथिला में इस तरह आरोपित था कि यहाँ कि पंडित-मंडली अपनी इस थाती को छाती से लगाकर इतना सुरक्षित रखती थी कि स्वर्णाभूषण भी इस नव्यन्याय से ईर्ष्या करते थे। जिसे नव्यन्याय पढ़ना होता था, वह लगभग 15 वीं शताब्दी पर्यंत मिथिला आकर ही पढ़ सकता था, वह भी परीक्षण के बाद। 'न्याय के महान् विद्वान् वासुदेव सार्वभौम, रघुनाथ शिरोमणि, स्मार्त्त रघुनंदन आदि बंगीय विद्वान् मिथिला के ही शिष्य थे'[1]। यहाँ प्रसंगवश परीक्षण से संबंधित एक रोचक कथा को उद्धृत करने के लोभ का संवरण नहीं कर पा रहा हूँ, जो आचार्य पक्षधर मिश्र और रघुनाथ शिरोमणि के बीच का है।

पक्षधर मिश्र विद्या और धन दोनों से सबल थे। उनके भवन के आगे द्वार पर दो छात्र रहा करते थे, उसके आगे भी दो छात्र, फिर दूसरे मंजिल पर जाने के मार्ग में दो जगह दो-दो छात्र बैठे अध्ययन किया करते थे। पांडित्य में प्रवीणता के बाद ही

कोई छात्र पक्षधर से मिल सकता था, पढ़ सकता था, अन्यथा इन्हीं छात्रों से पढ़कर संतोष करना पड़ता था। यदि कोई पक्षधर से मिलने भी आता तो उन्हें क्रमशः इन द्विक् छात्रों की जिज्ञासाओं का शमन करना होता था। इसी प्रकार एक बार वासुदेव सार्वभौम से पढ़कर उन्हीं के परामर्श पर रघुनाथ शिरोमणि पक्षधर मिश्र से पढ़ने मिथिला आए। जब उन्होंने अपने विद्या-बुद्धि-वैभव से उनके यहाँ के सभी स्तर पर युगल छात्रों को चुप कराते हुए ऊपर के मंजिल पर बैठे चारों प्रमुख शिष्यों को अपनी तर्कशक्ति से स्तब्ध कर दिया तो आचार्य पक्षधर मिश्र ने उस नवागंतुक बालक से पूछा कि देवराज इंद्र सहस्राक्ष हैं, भगवान् महादेव तीन आखोंवाले, बाकी सभी दो आँखवाले हैं, पर हे युवक! आप कौन हैं जो एक आँखवाले हैं—

''आखंडलः सहस्राक्षो विरूपाक्षस्त्रिलोचनः।
अन्ये द्विलोचनाः सर्वे को भवानेकलोचनः।।''

इस परिहासपूर्ण प्रश्न का उत्तर उसने साहंकारभाव से देते हुए कहा कि जिसे नैयायिकबहुल होने के कारण तर्कद्वीप कहा जाता है, दर्भों की बहुलता के कारण जिसको लोग कुशद्वीप कहते हैं, उसी नवद्वीप के निवासी तर्कशास्त्रनिष्णात हम 'शिरोमणि' हैं—

''तर्कद्वीप-कुशद्वीप-नवद्वीप-निवासिनः।
तर्कसिद्धांतसिद्धांत-शिरोमणिमनीषिणः।।''

अनंतर दोनों में काफी देर तक बातचीत चली। फिर एक बार जब मिश्रजी ने शिरोमणि से पूछा कि हे दुधमूहे काणे! जब संशय स्पष्ट रूप से जागरूक है, तो हठात् सामान्य लक्षणा नामक सामान्य रूप से होनेवाले प्रत्यक्ष का जनक सन्निकर्षको तुमने कैसे अस्वीकृत किया—

''वक्षोजपानकृत् काण ! संशये जाग्रति स्फुटम्।
सामान्यलक्षणा कस्मादकस्मादवलुप्यते।।''

इसका उत्तर शिरोमणि ने यह कहकर दिया कि आप एक अध्यापक हैं, अध्यापक का काम है अन्धों को आँख देना, अल्पज्ञों को विज्ञ बनाना और जो ऐसा नहीं कर पाते, वे तो मात्र 'अध्यापक' नामधारी हैं—

''योऽन्धं करोत्यक्षिमंतं यश्च बालं प्रबोधयेत्।
तमेवाध्यापकं मन्ये तदन्ये नामधारिणः।।''

तात्पर्य यह था कि बार-बार मिश्रजी द्वारा शिरोमणिजी को 'एकलोचन' 'काणा' कहे जाने से उन्हें दुःख भी हुआ था और गुस्सा भी। कहते हैं जैसे मिश्रजी घमंडी और

अहंकारी थे, उसी प्रकार शिरोमणिजी भी अहंकारी और शीघ्रकोपी थे। एक बार उन्होंने तो पक्षधर को कह दी दिया था—

''काव्येऽपि कोमलधियो वयमेव नान्ये
तर्केऽपि कर्कशधियो वयमेव नान्ये।
तंत्रेऽपि यंत्रितधियो वयमेव नान्ये
कृष्णेऽपि संयतधियो वयमेव नान्ये।।''

इसी प्रकार एक बार उन्होंने और भी अपना दम्भ दिखाया था—

''अनास्वाद्य गौडीमनाराध्य गौरीं,
विना तंत्रमंत्रैर्विना शब्दचौर्यात्।
प्रबुद्ध-प्रसिद्ध-प्रबंध-प्रवक्ता,
मदन्यः कविः को विरञ्चिप्रपञ्चे।।''

इसका अर्थ यह नहीं कि शिरोमणिजी मिश्रजी का सम्मान नहीं करते थे। जब उनसे सार्वभौमजी ने पद्यमय अन्योक्तिरूप में एक पत्र भेजा, जिसका एक चरण यह था कि ''किमधिकसुखमाप्सीरत्र वा तत्र वेति?'' तो इन्होंने भी उसी प्रकार उत्तर दिया था, जिसकी अंतिम एक पंक्ति ऐसी थी कि ''यः कांताधरपल्लवे मधुरिमा नालक्षि कुत्रापि सः''। इसमें इन्होंने पक्षधर मिश्र की ही प्रशंसा की थी।

इस प्रकार से परीक्षण कर-करके छात्रों को विद्यादान दिया जाता था।

प्राचीनन्यायशास्त्र तार्किक प्रश्नों पर बहस करता है, किंतु केवल बहस-मुबाहसे के उद्देश्य से नहीं, बल्कि नवनीत प्राप्ति के लिए। इससे सर्वथा भिन्न दृष्टिकोण जैन व बौद्ध दार्शनिकों का रहा है। इसके भी ठीक उलट, नव्यन्याय ने केवल ज्ञानमात्र में ही अपनी रुचि प्रकट करते हुए तर्क और जीवन के बीच जो घनिष्ठ संबंध है, उसे सर्वथा भुला दिया। तर्क व अध्यात्मविद्या के मध्य जो संबंध है, उसका विचार प्राचीन नैयायिकों के सामने अधिक स्पष्ट रूप में विद्यमान था। विचारगत विषयों का विचार के प्रामाणिक रूपों के साथ क्या संबंध है, तर्क के द्वारा केवल इसी का हमें निश्चय हो सकता है। परंतु नव्यनैयायिक अधिकतर ध्यान केवल प्रमाण अर्थात् ज्ञान प्राप्ति के साधनों और परिभाषा के सिद्धांत पर ही देता है—'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः', जबकि प्रमेय अर्थात् ज्ञातव्य पदार्थों के प्रश्न को सर्वथा ही छोड़ देता है।

सांप्रदायिक बारीकियों, तार्किक वाक्-छल और बाल की खाल निकालनेवाले ग्रंथों की रचना में गंगेश के उत्तराधिकारियों ने जो रुचि दिखाई है, वह बहुतों को भयभीत कर देती है। यहाँ तक कि जिन नव्यनैयायिकों ने इनकी गहराई को मापा है, वे भी यह निश्चय नहीं कर पाते कि इन ग्रंथों के विचारों को उन्होंने भली-भाँति समझ लिया है। ऐसे भी कई व्यक्ति हैं जो इन ग्रंथों की गहराई मापने का दम्भ तो भरते हैं, पर वे मति-विभ्रम में ही पड़कर ज्ञान की उपलब्धि से दूर होते हैं। यह बात दिगर है कि ऐसे व्यक्तियों को इनकी उज्ज्वल एवं आकर्षक वाक् चातुरी ने अवश्य ही प्रभावित किया है। फिर भी विषय-विशदता, शब्द-विन्यास-विरलता आदि के कारण उनके ज्ञान से धुंधलापन हट नहीं पाया।

वैशिष्ट्य ज्ञान के लिए जब तार्किक मस्तिष्क औपचारिक विषयों में फँस जाता है, सूत्रों के प्रेम में बंध जाता है, तो उसे वास्तविक तत्त्व की प्राप्ति मिल नहीं पाती, क्योंकि वास्तविक ज्ञान का स्थान पारिभाषिक शब्दों की खोज लेने लगती है। यही कारण है कि नव्यन्याय के ग्रंथों में से कई तो ऐसे हैं, जिनसे केवल यही प्रकट होता है कि जिस विषय का ग्रंथकार को कुछ भी ज्ञान न हो, उसमें भी पांडित्य का प्रदर्शन किस प्रकार किया जा सकता है। संक्षेप में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि 'नव्यन्याय' बुद्धि और प्रतिभा के लिए एक शिक्षणभूमि है, स्वर्ण की भाँति एक कसौटी का काम करता है।

नव्यन्याय के अनुसार प्रत्यक्षज्ञान के लिए 'साक्षात्कारित्व' की अपेक्षा है, इंद्रियार्थ-सन्निकर्ष की नहीं। सभी प्रकार के प्रत्यक्षज्ञान के लिए साक्षात् होने की आवश्यकता है। इस प्रकार गंगेश ने बतलाया है कि साक्षात्कारित्व ही प्रत्यक्ष का लक्षण है—'प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वं लक्षणम्'[2]। इस साक्षात्कारिता को ध्यान में रखते हुए नव्यन्याय के आचार्यों ने प्रत्यक्ष की परिभाषा ज्ञान के अकरणरूप में किया है—''ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्'[3]। तात्पर्य यह है कि जिस ज्ञान में ज्ञानकरण न हो वही प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष ज्ञान के अतिरिक्त जितने भी ज्ञान हैं, वे सब ज्ञानाकरणक ही हैं। यथा—अनुमिति में व्याप्तिज्ञान करण है, उपमिति में सादृश्यज्ञान और शाब्दबोध में पदज्ञान करण है। साथ ही स्मृति में अनुभव करण है। इस प्रकार प्रत्यक्ष से अतिरिक्त समस्त ज्ञान ज्ञानकरणक हैं। प्रत्यक्ष तो स्वयं मूलस्वरूप है। उसका करण दूसरा ज्ञान नहीं हो सकता। अतः जिस ज्ञान का ज्ञानांतर कारण न हो, वही प्रत्यक्ष है। ज्ञानाकरणकरूप प्रत्यक्ष, ईश्वर और जीव दोनों के लिए समान है।

यह नव्यन्याय की लोकप्रियता ही थी कि इसके प्रारंभ होते ही यह देश-भर में छा गया। कुछ लोगों का यह कहना कि बौद्धों को शास्त्रार्थ में परास्त करने के लिए ही इस नई शैली का उद्भव हुआ, जिसका उत्तर देने में बौद्ध दार्शनिक असमर्थ रहे, प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता। कारण, उदयनाचार्य के बाद ही बौद्धों का दार्शनिक अस्तित्व ब्राह्मण न्याय के आगे मलिन पड़ गया था, अस्ताचलगामी हो गया था, गंगेश के समय तो बौद्धों का पलायन भी हो चुका था। उनके पलायन करने में यवनों का आक्रमण, राजकीय सहायता का बंद होना, सामाजिक उपेक्षाभाव आदि कई कारण थे। साथ ही अपने धर्म, दर्शन और संस्कृति को बौद्धों से बचाने की चुनौती कुमारिल, वाचस्पति और उदयन को तो थी, पर गंगेश और पक्षधर को नहीं।

भारतीय दर्शनों की भाँति पदार्थों के ज्ञान और उसकी प्रक्रिया की ओर जब न्याय का ध्यान आकर्षित हुआ तो उसने पाया कि लौकिक तथा अलौकिक ज्ञान में जो मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया मूलाधार है, उसका भिन्न प्रकार से वर्णन की आवश्यकता है। इसने अपनी प्रक्रिया का नाम 'प्रमाण' रखा। यों तो ज्ञान के साधन इंद्रिय और पदार्थ आदि भी हैं, परंतु जिन प्रक्रियाओं से मनुष्य विविध प्रकार के ज्ञानों का अर्जन करता है, उसी का नाम 'प्रमाण' है । प्रमाण से जो ज्ञान अर्जित किया जाता है, उसका पारिभाषिक नाम 'प्रमा' है अर्थात् यथार्थ अनुभव। इस प्रमा का जो कारण है, वही प्रमाण है—'प्रमीयते अनेनेति प्रमाणम्'। अर्थात् यथार्थज्ञान 'प्रमा' में जो अत्यंत अधिक सहायक होता हो, उसे 'प्रमाण' कहते हैं।

न्यायदर्शन में चार प्रकार के प्रमाण माने गए हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द—''प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि''[4]। परंतु प्राचीन और नवीन दोनों न्यायों की भाँति वैशेषिक दर्शन में प्रमाण चार नहीं, बल्कि दो ही हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। इसी प्रकार न्यायदर्शन के चारों प्रकारों के प्रमाण का वर्णन दो प्रकार से किया गया है। एक प्राचीन न्याय के अनुसार और दूसरा नव्यन्याय के अनुसार। नव्यन्याय में इनका विशेष वर्णन और विशद व्याख्याएँ हुई हैं। मूलाधार के आधार पर उनकी परिभाषाओं में भी खूब उथल-पुथल हुई हैं, परिवर्त्तन-परिवर्धन भी किए गए हैं।

नव्यन्याय के अध्ययन से बुद्धि तीक्ष्ण होती है, तर्क करने का सामर्थ्य, वाद-प्रतिवाद करने की क्षमता बढ़ जाती है तथा बोल-चाल की दार्शनिक परिपाटी में विद्वान् प्रौढ़ बन जाते हैं। इसके साथ-साथ नव्यन्याय ने संस्कृत विद्या के अध्ययन अध्यापन की दृष्टि ही बदलकर रख दी। तर्क प्रधान होने पर भी जहाँ प्राचीन न्याय का मुख्य लक्ष्य 'मुक्ति' था, वहीं नव्यन्याय का उद्देश्य मात्र 'तर्क' करना हो गया। जो साधन था, वही साध्य बन गया। इस गंगेशीयन्याय के आगे गौतमीयन्याय को विद्वत्समाज भी भूल ही जैसा गया। इस नवीन न्याय के अध्ययन में एक प्रकार का आनंद है, शब्द-ताल-तरंगिणीरूपी इस वाक्य-निर्झरणी के आगे निर्झर झरती वारि-धाराएँ भी फीकी लगने लगती है। शास्त्रार्थ विचार में जय-पराजय के लिए तर्क का क्षेत्र विस्तृत हो गया। प्राचीन न्याय में भी यद्यपि 'वाद' से लेकर 'निग्रहस्थान' तक के प्रमेय प्रधानरूप से जय-पराजय के लिए ही थे, पर बाद में उनका प्रयोग जितना नव्यन्याय में होने लगा, उतना प्राचीन न्याय में नहीं था। हाँ, इन दोनों न्याय अध्येता छात्रों का विद्वन्मंडली में आदर बड़ावर अवश्य था, प्रायः औरों से अधिक भी।

नव्यन्याय की मुख्य विशेषता भले ही नवीन पद्धति की उद्भावना रही हो, परंतु न्यायशास्त्र का मोक्ष-शास्त्रत्व के स्थान पर उसे प्रमाणशास्त्रत्व प्रदान करना, प्रमाण विचार की प्रतिष्ठापना करना भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। क्योंकि गंगेश से लेकर

परवर्ती विद्वानों ने (नव्य नैयायिकों ने) इस प्रमाण पर खूब विचार किया है तथा लक्षणों को तर्क की कसौटी पर कस-कस कर उनमें परिवर्त्तन एवं परिवर्धन भी किए।

नव्यन्यायशास्त्र की वैसे तो कई विशेषताएँ हैं, केवल इसके वैशिष्ट्य पर ही प्रबंध लिखे जा सकते हैं, परंतु यहाँ कुछ और वैशिष्ट्य को परिगणित कर संतोष करना पड़ रहा है। प्राचीन न्याय और वैशेषिक दर्शन में 'ईश्वर' की चर्चा स्पष्टतः या यथार्थ रूप में नहीं हो पाई है और तदनुसार मंगलाचरण एवं उसकी उपादेयता से संबंधित विचार भी नहीं हो पाया है ; परंतु नव्यन्याय की प्रथमकृति तत्त्वचिंतामणि में 'गुणातीतोपीशः .... पुरभिदो' प्रभृति मंगलाचरण एवं मंगलवाद के प्रणयन-प्रयुक्त भगवद्भक्ति-गंगा का उद्गम स्पष्ट हो आया है।

वस्तुतः प्राचीन न्याय में प्रमाण और प्रमेय दोनों को शास्त्र-प्रतिपाद्य माना गया था और तदंतर्गत प्रमेय भी पारिभाषिक आत्मा, शरीर, इंद्रिय आदि द्वादशविध गृहीत हुआ था। परंतु नव्यन्याय में न तो प्राचीन न्याय की भाँति द्वादशविध प्रमेय को स्वीकार किया गया है और न ही वैशेषिक दर्शनानुसार द्रव्य, गुण, कर्म आदि प्रमेय को प्रतिपाद्य रूप में ग्रहण किया गया, बल्कि यहाँ तो प्रमाण मात्र को प्रतिपाद्य ठहराया गया है। तभी तो तत्त्वचिंतामणि को चार खंडों में विभक्त किया गया। जिससे सूचित होता है कि संसार के सारे पदार्थ स्वतः प्रमाण ही हैं। प्रमेय तो अन्य की प्रमाणता को चरितार्थ करने के लिए ही हुआ करते हैं। संसार के सभी पदार्थ अनुमापक होते हैं, प्रकाशक या ज्ञापक होते हैं, जो प्रमाण ही हो सकता है। अतः संसार के सभी पदार्थ 'स्वतः प्रमाण' हैं। इसलिए गंगेश ने अपने ग्रंथ के नाम में 'मणि' शब्द का संयोजन किया है, क्योंकि 'मणि' स्वतः प्रकाशक है। यदि कोई उसके पास प्रकाश्य बनने के लिए उपस्थित नहीं होगा तो वह स्वयं अपने को ही प्रकाश्य बनाकर अपनी वास्तविक प्रमाणता को चरितार्थ कर लेगा।

जहाँ वैशेषिक दर्शन प्रमेयत्व को केवलान्वयी धर्म मानता है, वहीं प्राचीन न्याय प्रमाणत्व और प्रमेयत्व दोनों को। जबकि नव्यन्याय के मत में प्रमाणत्व ही केवलान्वयी का धर्म है।

इन्हीं सब कारणों से नव्यन्याय भारतीय दर्शन का अद्भुत सिद्धांत है, जिसमें भारतीय वैदुष्य एवं तर्कपद्धति का चरम विकास दिखाई देता है। नव्यन्याय में अन्यदर्शनों की सूत्रशैली का परित्याग कर स्वतंत्ररूप से ग्रंथ निर्माण किया गया है। इस शाखा में व्याख्या, उपव्याख्याओं की तो बात ही क्या, प्रकरण ग्रंथों की भी जितनी रचनाएँ हुई हैं, प्रायः उतनी किसी अन्य शास्त्र में भी नहीं।

प्राचीनन्याय द्वारा प्रतिपादित षोड़श पदार्थों में से केवल प्रथम पदार्थ 'प्रमाण' को लेकर किंवा गौतमसूत्रों में से केवल एक सूत्र 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि'[5] को लेकर ही गंगेश ने 'प्रमाण-तत्त्व-चिंतामणि' अथवा 'न्याय-तत्त्व-चिंतामणि' नामक

विस्तृत ग्रंथ की रचना की। इसके माध्यम से उन्होंने प्रमाणों की विशद व्याख्या की तथा प्रसंगवश न्यायशास्त्र के प्रायः सारे विषयों का विवेचन प्रस्तुत किया। तत्त्वचिंतामणि के अतिरिक्त इतना विशाल साहित्य निश्चय ही किसी एक ग्रंथ पर उपलब्ध नहीं होता।

आचार्य गंगेश ने अपने तत्त्वचिंतामणि में भावसर्वस्व की शैली पर प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द—इन चार प्रकार के प्रमाणों की गंभीर व्याख्या प्रस्तुत की है। जिसमें प्रामाण्यवाद, प्रत्यक्षकरणवाद, मनोऽणुत्ववाद तथा व्याप्तिग्रहोपाद आदि नवीन विषयों पर गहन विचार किया गया है। इसकी व्यापकता और उपादेयता के प्रसंग कुछ कहना सूरज को दीपक दिखाने के बराबर होगा।

इसके चारों खंड अनेक प्रकरणों में विभक्त हैं, जहाँ संबद्ध विषय सम्यक् रीति से विशदतापूर्ण ढंग से विवेचित हुए हैं। इन खंडों में 'अनुमानखंड' सबसे बड़ा और 'उपमानखंड' सबसे छोटा है। यही कारण होगा कि परवर्ती टीकाकारों ने भी उपमानखंड पर कम ही काम किया है, अधिकांश ने तो इस पर टीका भी नहीं लिखी है। जो भी हो, प्रत्यक्ष और शब्दखंडों के प्रकरण यहाँ 'वाद' नाम से अभिहित किए गए हैं।

तत्त्वचिंतामणि में 'विशेष' पदार्थ तो मान्य नहीं है। सामान्य, समवाय और अभाव का विवेचन तो है, पर वह भी महज इसलिए कि वे प्रत्यक्षरूप से सिद्ध होते हैं। द्रव्य, गुण, कर्म की तरह प्रत्यक्ष ही हैं। अपने व्यापक वस्तुओं के अनुमापक होने के कारण वे भी प्रमाण के अंतर्गत ही आ जाते हैं। प्रमाण-बाह्य कोई पदार्थ है ही नहीं। इसलिए गंगेश ने प्रमाणमात्र को प्रतिपाद्य बनाकर तत्त्वचिंतामणि को चार भागों में विभक्त किया है।

शास्त्रीय किसी एक अंश के प्रतिपादक तथा अन्य शास्त्रों के आवश्यक एवं उपयोगी अंशों का प्रतिपादन करनेवाले ग्रंथ 'प्रकरणग्रंथ' कहलाते हैं। पराशर उपपुराण के "शास्त्रैकदेशसंबद्धं शास्त्रकार्यांतरे स्थितम्। आहुः प्रकरणं नाम ग्रंथभेदं विपश्चितः।।" वचन के आधार पर यद्यपि तत्त्वचिंतामणि को प्रकरणग्रंथ की कोटि में होना चाहिए, परंतु विषयप्रतिपादन और शैली के कारण इसका परिगणन लक्षणग्रंथ में ही किया जाता है।

इस मणिग्रंथ में प्राचीन न्यायशास्त्र और मीमांसाशास्त्रों का, विशेषकर प्रभाकर मीमांसकों के ग्रंथों का पर्यालोचन करके गंगेश ने स्वयं अपूर्व निष्कर्ष को ढूँढ़ निकाला है। अतएव ग्रंथारंभ में उनकी यह प्रतिज्ञा सर्वथा उचित है कि—

"अन्वीक्षानयमाकलय्य गुरुभिर्ज्ञात्वा गुरुणां मतं,
गंगेशस्तनुते मितेन वचसा श्रीतत्त्वचिंतामणिम्।"

लक्षण परिष्कार के विषय में तत्त्वचिंतामणि की रीति कुछ भिन्न ही है । प्राचीन ग्रंथों में दिए गए लक्षणों में से अव्याप्ति आदि दोषों को उत्थापित करके पुनः निर्दुष्ट लक्षण-परिष्कार में ग्रंथकार ने अपना चातुर्य दिखलाया है । अतएव परवर्ती सभी

प्रकांड पंडितों ने साक्षात् या परंपरया उस ग्रंथ पर व्याख्यान करने में अपना गौरव समझा। और तो और, न्यायेतर शास्त्रों के विद्वान् भी गंगेश की परिष्कार शैली से आकृष्ट होकर अपने-अपने ग्रंथों में उसी शैली और रीति को अपनाए। 'अद्वैतसिद्धि' प्रभृति प्रौढ़ प्रबंधों में गंगेश की रचना शैली को देखा जा सकता है, जहाँ कतिपय स्थलों में आचार्य सरस्वतीजी ने चिंतामणि को भी प्रमाण रूप में उद्धृत किया है।

इस ग्रंथ की शैली नवीन है, इसकी भाषा अपनी विशेषता के लिए विख्यात है, जो अवच्छेदक-अवच्छेद्य, निरूप्य-निरूपक, अनुयोगी-प्रतियोगी, विषयता-प्रकारता आदि विचारमापक नवीन शब्दों से सभी सिद्धांतों की व्याख्या करती है। यह शैली इतनी लोकप्रिय हुई कि गंगेशोत्तर काल में रचित संस्कृत के प्रायः अधिकांश ग्रंथों पर इस नव्यन्याय शैली का प्रचुर प्रभाव पड़ा। यहाँ तक कि साहित्यिक ग्रंथ रसगंगाधर भी इससे अछूता नहीं रह सका।

यह नव्यन्याय का ही वैशिष्ट्य है कि इसने संस्कृत जगत को (ज्योतिष, आयुर्वेद को छोड़) विशेषकर दर्शन और व्याकरण को एक ऐसी शक्ति संपन्न भाषा दी है, जो पहले थी ही नहीं। साथ ही जिस भाषा से विवेचकों को हर शास्त्र में अति सूक्ष्मता से अग्रसर होने की क्षमता और ऊर्जा प्राप्त हुई।

किसी भी नई भाषा के उद्‌गम और समृद्धि के लिए उसे नए-नए पदों की आवश्यकता होती है, इसलिए नव्यन्याय ने भी अपनी भाषा में अनुयोगी-अनुयोगिता, प्रतियोगी-प्रतियोगिता, अवच्छेदक-अवच्छेदकता, अवच्छेद्य-अवच्छिन्नता, विषय-विषयिता, निरूपक-निरूपकता, निरूपित-निरूप्यता, प्रकार-प्रकारता, विशेष्य-विशेष्यता, संसर्ग-संसर्गता, आधार-आधारता, आधेय-आधेयता, कोटि-कोटिता आदि सैंकड़ों पद आविष्कृत किए किंवा समायोजित किए। इन शब्दों की समायोजना में, उसके अभिप्राय में कहीं-कहीं तो प्राचीन न्याय और नव्यन्याय में इतनी दूरी आ गई कि अल्पशिक्षित व्यक्ति को शब्दार्थ ज्ञान में समस्या खड़ी हो जाती है। उदाहरणार्थ, 'प्रतिबंध' शब्द को ही लिया जाए, जिसका पारिभाषिक अर्थ प्राचीन न्याय में 'व्याप्ति' होता है, किंतु नव्यन्याय में इसका अर्थ 'प्रतिरोध' हो गया है।

इस शैली की विशेषता कतिपय पारिभाषिक शब्दों के बोझ से लदी हुई होने के कारण सामान्य पंडितों के लिए भी एक विभीषिका है। अवच्छेदकावच्छिन्न, अनुयोगिता, प्रतियोगिता, तन्निरूपिता, तन्निष्ठ आदि की ग्रंथियों को सुलझाकर भाव पर पहुँचना सामान्य योग्यतावाले व्यक्ति के लिए टेढी खीर है। साधारण योग्यतावालों के लिए तो यह केवल वाग् वैदुष्य का बवंडर मात्र है। परंतु पंडित-मंडली में इसकी बड़ी प्रतिष्ठा हुई। बाद में जय-पराजय का एकमात्र आधार यही शैली बन गई। कारण यह था कि इस शैली में अर्थ को यथार्थ रूप में प्रकट करने की अद्‌भुत क्षमता थी, विचारों के स्पष्ट प्रकटीकरण के लिए इसमें अद्‌भुत सामर्थ्य थी। भावों का यह चुस्त परिधान

समझा जाता था। विचारों के माप से ही इसमें भाषा का गठन होता था। इसके प्रयोग में भाव ऐसे स्पष्ट और व्यवस्थित रूप में अभिव्यक्त होते हैं कि वाक्य के वाक्य पूर्णरूप से और ठीक प्रकार से, सही रूप से अभिमत अर्थ को सम्मुख रख देते हैं। किसी प्रकार की आकांक्षा नहीं रह जाती। इसलिए इस नव्यन्याय की शैली को विचार-विमर्श के लिए आगे बढ़कर सभी दर्शनों ने अपनाया। यहाँ तक कि व्याकरण और काव्यशास्त्र के निरूपणांश तथा खंडन-मंडन भी इसी शैली में लिखे जाने लगे।

गंगेश की इस नवीन शैली में कुछ ऐसा जादू था कि उसने दूर-दूर के पंडितों को भी अपनी ओर आकर्षित किया। उनके 'अनुमान' के ऊपर खड़े हुए विवादों ने मिथिला तो क्या, पार्श्ववर्ती बंगाल, विशेषकर नदिया (नवद्वीप) की पंडित मंडली को ऐसा आकर्षित किया कि उनमें से अनेकों ने तत्त्वचिंतामणि के अनुमान खंड पर टीकाएँ व उपटीकाएँ लिखनी शुरू कर दी । कुछ विद्वानों ने जहाँ शब्दखंड पर तो कुछ अनुमान खंड पर मौलिक रचनाएँ भी कीं। इस प्रकार तत्त्वचिंतामणि के प्रभाव के कारण नदिया लगभग दो शताब्दियों तक नव्यन्याय का गढ़ बना रहा।

उदयनाचार्य निश्चय ही प्राचीन न्याय और नव्यन्याय के संधिकाल के स्तंभ हैं, हमारे गंगेश के प्रेरणास्रोत हैं, जिन्हें वे बहुत आदर और सम्मान करते थे। उनके प्रति गंगेश की अपार श्रद्धा ही है कि वे अनेकों वाद-विषयों में उदयन का ही पन्थानुगमन करते हैं। प्राचीन न्यायग्रंथों में विस्तारसे प्रतिपादित विषयों का निष्कर्ष सहित प्रतिपादन करना, वह भी गंगेश की ही भाषा में 'मितेन वचसा'—यही तत्त्वचिंतामणि ग्रंथ का वैलक्षण्य है। प्राचीन ग्रंथगत त्रुटि का परिमार्जन कर सर्वथा निर्दुष्ट परिष्कार करना इसकी विशेषता को ही ख्यापित करता है। ग्रंथ की भाषा भी मध्यमार्गानुगामिनी है, न तो बहुत कठिन और न अधिक सरल। कई स्थलों पर कुसुमांजलि की छाया का अनुसरण करती हुई गंगेश की शैली लक्षण-परिष्करण के विषय में उदयन से भी आगे निकल गई प्रतीत होती है।

तत्त्वचिंतामणि का मंगलाचरण यहाँ अवलोकनार्थ द्रष्टव्य है—

''गुणातीतोऽपीशः त्रिगुणसचिवस्त्र्यक्षरमयः,
त्रिमूर्त्तिर्यः स्वर्ग-स्थिति-विलयकर्माणि तनुते।
कृपापारावारः परमगतिरेकस्त्रिजगतां,
नमस्तस्मै कस्मैचिदमितमहिम्ने पुरभिदे।।''

इस ग्रंथ के 'प्रत्यक्षखंड' में जहाँ मुख्य रूप से प्रतिपाद्य वस्तु के अनुसार कुल 12 प्रकरण 'वाद' नाम से रखे गए हैं, वहीं 'अनुमान खंड' के अंतर्गत 13 प्रकरण प्राप्त हैं। 'उपमानखंड' में यद्यपि अवांतर प्रकरणों का विभाजन नहीं किया गया है, परंतु विचार करने पर वहाँ भी 14 प्रतिपाद्य विषय प्रतीत होते हैं, जबकि अंतिम महत्त्वपूर्ण 'शब्दखंड' में 16 प्रकरण रखे गए हैं। विषय को और स्पष्ट करने के लिए यहाँ क्रमशः प्रत्येक खंड के प्रकरणों का नाम निर्देश किया जा रहा है—

प्रत्यक्ष खंड के वे 12 वाद हैं, क्रमशः—(1) मंगलवाद (2) प्रामाण्यवाद (3) अन्यथाख्यातिवाद (4) सन्निकर्षवाद (5) समवायवाद (6) अनुपलब्ध्य-प्रमाण्यवाद (7) अभाववाद (8) प्रत्यक्षकारणवाद (9) मनोऽणुत्ववाद (10) अनुव्यवसायवाद (11) निर्विकल्पकवाद तथा (12) सविकल्पकवाद। उत्पत्तिवाद, ज्ञप्तिवाद एवं प्रमालक्षणवाद—ये तीनों अवांतर रूप में द्वितीय प्रकरण प्रामाण्यवाद के साथ सन्निविष्ट हैं।

अनुमान खंड के जिन 13 प्रकरणों पर विचार किया गया है, वे हैं क्रमशः—(1) संगतिसहित अनुमिति प्रकरण (2) व्याप्तिवाद (3) व्याप्तिग्रहोपाय प्रकरण (4) सामान्यलक्षणप्रकरण (5) उपाधिवाद (6) पक्षताप्रकरण (7) परामर्शप्रकरण (8) केवलान्वयी-अनुमान-प्रकरण (9) केवल व्यतिरेकी-अनुमान-प्रकरण (10) अर्थापत्तिप्रकरण (11) अवयव-निरूपण-प्रकरण (12) हेत्वाभासप्रकरण तथा (13) ईश्वरानुमानप्रकरण।

इसके किसी-किसी प्रकरण में कुछ अवांतर प्रकरण भी दिए गए हैं। यथा द्वितीय, व्याप्तिवाद प्रकरण में सात प्रकरण अवांतर रूप से आए हैं—(1) व्याप्तिपंचकप्रकरण (2) सिंहव्याघ्रव्याप्तिप्रकरण (3) व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्नाभावप्रकरण (4) पूर्वपक्षोपसंहारप्रकरण (5) व्याप्तिसिद्धांत-लक्षणप्रकरण (6) सामान्यभावप्रकरण तथा (7) विशेषव्याप्तिप्रकरण। तृतीय, व्याप्तिग्रहोपायप्रकरण में दो प्रकरण हैं—(1) तर्क प्रकरण एवं (2) व्याप्त्यनुगमप्रकरण। पंचम, उपाधिवाद में चार विशेष विषय हैं (1) उपाधिलक्षण (2) उपाधिविभाग (3) उपाधिदूषकताबीज तथा (4) उपाध्याभास। इसी प्रकार दशम, अर्थापत्तिप्रकरण में भी दो प्रकरण अवांतरतया प्रविष्ट हैं—(1) संशयकरणक-अर्थापत्तिप्रकरण एवं (2) अनुपलब्धिकरणक अर्थापत्ति। जबकि बारहवें, हेत्वाभास प्रकरण में सर्वाधिक, दस अवांतर प्रकरण दिए गए हैं। जैसे—(1) हेत्वाभास-सामान्यनिरुक्ति (2) सव्यभिचार (3) साधारण (4) असाधारण (5) अनुपसंहारी (6) विरुद्ध (7) सत्प्रतिपक्ष (8) असिद्धि (9) बाध (10) हेत्वाभासासाधकत्व।

जैसा कि ऊपर कहा है, उपमान खंड में प्रकरण-विभाजन नहीं हुआ है, परंतु जिन-जिन विषयों पर उसमें विवेचना हुई है, वे चौदह विषय हैं—(1) उपमान-निरूपण-प्रतिज्ञा, (2) उपमानाप्रामाण्य (3) उसका खंडन (4) उपमितिस्वरूप के संबंध में जयंत मत (5) उसका खंडन (6) मीमांसकमत (7) उसका खंडन (8) स्वमतव्यवस्थापन (9) सादृश्य की अतिरिक्त पदार्थता के प्रसंग एक-देशिमत (10) उसका खंडन (11) नव्यमीमांसक मत (12) उसका खंडन (13) अन्य मीमांसकों का मत तथा (14) उसका खंडन।

अंतिम, 'शब्दखंड' नामक चतुर्थ खंड में कुल 16 विषयों का प्रतिपादन अलग-अलग प्रकरणों में हुआ है, जो इस प्रकार हैं—(1) शब्दाप्रामाण्यवाद (2) शब्दाकांक्षावाद (3) योग्यतावाद (4) आसत्तिवाद (5) तात्पर्यवाद (6) शब्दानित्यतावाद (7) उच्छन्न-प्रच्छन्नवाद (8) विधिवाद (9) अपूर्ववाद (10) कार्यान्वित-शक्तिवाद (11) जाति-शक्तिवाद (12) समासवाद (13) आख्यातवाद (14) धातुवाद (15) उपसर्गवाद एवं (16) प्रमाणचतुष्टय-प्रामाण्यवाद।

प्रत्येक ज्ञान के लिए चार प्रकार की सामग्री आवश्यक होती हैं—

1. प्रमाता अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने की सामर्थ्य रखने वाला । 2. प्रमेय अथवा पदार्थ, जिसके ज्ञान के लिए साधनों का प्रयोग किया जाता है। 3. प्रमिति अर्थात् ज्ञान, तथा 4. प्रमाण अथवा ज्ञान प्राप्त करने के साधन, जिसके बारे में 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' कहा गया है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान प्राप्ति की प्रत्येक क्रिया में, चाहे वह मान्य हो अथवा अमान्य, तीन अवयवों का होना अत्यावश्यक है। पहला ज्ञान प्राप्त करनेवाला कर्त्ता अर्थात् प्रमाता, दूसरा पदार्थ, जिसके अस्तित्व का ज्ञान ज्ञानकर्त्ता को ही रहता है अर्थात् प्रमेय और तीसरा इन दोनों के बीच, जो भिन्न-भिन्न नहीं है, किंतु पृथक्-पृथक् करके समझे जा सकते हैं, ज्ञान का संबंध अर्थात् प्रमिति। यह ज्ञान मान्य है अथवा अमान्य, सत्य है या मिथ्या—इसका निर्णय चौथे अवयव अर्थात् प्रमाण पर ही निर्भर करता है ।

विज्ञान की अनुमानात्मक प्रणाली का उपयोग करके न्याय उन भिन्न उपायों का वर्गीकरण करता है, जिनके द्वारा हमें ज्ञान प्राप्त होता है। ऐसे चार प्रकार के प्रमाण हैं—1. प्रत्यक्ष अथवा अंतर्दृष्टि 2. अनुमान 3. उपमान अथवा तुलना तथा 4. शब्द अर्थात् आप्तवचन। इनमें प्रत्यक्ष, इंद्रियजन्य बोध अंतर्दृष्टि अथवा साक्षात् बोध का ही एक भेदमात्र है। अनुमान का धात्वर्थ है दूसरे के द्वारा, अथवा किसी वस्तु का पीछे से ज्ञान होना। जबकि शब्द वह आप्तोपदेश है, जिसे विश्वसनीय कथन कह सकते हैं।

प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष-प्रमाण का लक्षण बतलाते हुए न्यायदर्शन में सूत्रकार लिखते हैं कि इंद्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष अर्थात् संयोग से उत्पन्न हुआ, अव्यपदेश अर्थात् अकथनीय एवं अशाब्द, अव्यभिचारि, निर्दोष अर्थात् संशय-विपर्ययादि से रहित जो व्यवसायात्मक निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे 'प्रत्यक्ष' कहते हैं—''इंद्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि-व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्''[6]। इस सूत्र के भावार्थ पर नव्यन्याय में स्पष्ट रूप से दो प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञानों की कल्पना की गई है, और वे हैं—निर्विकल्पकज्ञान तथा सविकल्पकज्ञान।

प्रत्यक्षलक्षणसूत्र में जो 'अव्यपदेश्य' पद दिया गया है, उसकी व्याख्या करते हुए वात्स्यायन ने कहा है कि प्रत्यक्षीकृत पदार्थ को अभिधान से अभिहित करने में उसकी शुद्ध प्रत्यक्षता समाप्त हो जाती है और तब वह 'शब्दज्ञान' होता है। इसलिए उसे 'अव्यपदेश्य' कहा गया है। अभिप्राय यह है कि जब कंबुग्रीव मिट्टी के बर्तन को देखकर उसे हम 'घट' कहते हैं तो यह 'घट कहना' माता-पिता आदि से सीखा हुआ होने के कारण शब्द-ज्ञान है, न कि प्रत्यक्ष-ज्ञान। इसी प्रकार नाम-जात्यादि-योजना-हीन प्रत्यक्ष से 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' का संकेत मिलता है। सविकल्पक का आधार जहाँ भाष्यकार ने 'व्यवहार' को बताया है, वहीं नव्यन्याय के मत में सविकल्पक की कल्पना का आधार सूत्रगत 'व्यवसायात्मक' ही है। इस प्रकार प्राचीन न्याय में जो 'प्रत्यक्ष' एक था, वही नव्यन्याय में आकर दो हो गए हैं।

गंगेश ने प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार से किया है कि साक्षात्कारित्व ही प्रत्यक्ष का लक्षण है—'प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वं लक्षणम्'[7]। यह साक्षात्कारिता इंद्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होती है अथवा यों कहें कि इंद्रियार्थसन्निकर्ष से उद्भूत ज्ञान का ही दूसरा नाम साक्षात्कारिता है। इसी आधार पर परवर्ती काल में विद्वानों ने उसे सँवार कर 'अर्थ साक्षात्कारी प्रमा के करण' को प्रत्यक्ष का लक्षण बनाया[8]। जबकि गंगेश ने स्पष्ट ही कहा है—'ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' अर्थात् जिस ज्ञान का करण कोई अन्य ज्ञान न हो, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। वस्तुतः प्रत्यक्ष का कारण कोई अन्य ज्ञान नहीं, अपितु केवल इंद्रियार्थ का सन्निकर्ष ही होता है। इसी प्रकार 'अनुमान' में लिंग और लिंगी का प्रत्यक्षतः व्याप्तिज्ञान, 'उपमान' में अतिदेश वाक्य का ज्ञान एवं 'शब्द' में शब्द तथा पद का ज्ञान कारण होता है।

इस प्रकार प्राचीन न्याय में जहाँ प्रत्यक्ष का एक ही लक्षण किया गया है, वहीं नव्यन्याय में एक से अधिक और उससे भिन्न भी। प्राचीन न्याय के अनुसार जहाँ इंद्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न अशाब्द, असंदिग्ध और निश्चित ज्ञान को प्रत्यक्ष माना गया है, वहीं नव्यन्याय में साक्षात्कारि-प्रमा के करण (उत्कृष्टतम साधन) को तथा किसी प्रकार के ज्ञान को करण न रखनेवाले ज्ञान को भी प्रत्यक्ष कहा गया है।

प्रत्यक्ष-लक्षण में सूत्रकार ने 'सन्निकर्ष' शब्द का भी प्रयोग किया है, जिसका अर्थ भाष्यकार ने 'संयोग' किया है। परंतु नव्यन्याय में इस पर भी गंभीरता से विचार हुआ है। संबंध-तत्त्वों के ज्ञान के कारण एक ही सन्निकर्ष को मान लेना बुद्धि एवं विश्लेषण के अभाव का द्योतक होता, फलतः नव्य नैयायिकों ने इनके लिए पृथक्-पृथक् सन्निकर्षों को स्वीकार किया है। इनके मत में छः सन्निकर्ष हैं—संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेत समवाय और विशेषण-विशेष्यभाव। इन सन्निकर्षों में किसी भी सन्निकर्ष के द्वारा उत्पन्न ज्ञान को 'प्रत्यक्ष' कहा गया है। परंतु यह ज्ञान यथार्थ होना चाहिए। अतएव सूत्रकार ने उपर्युक्त प्रत्यक्ष लक्षणसूत्र में

'अव्यभिचारि' तथा 'व्यवसायात्मकं' पदों को जोड़ा है। यही यथार्थानुभव या यथार्थज्ञान 'प्रमा' है। प्रतीत्यात्मक या आभासात्मक ज्ञान, कोई 'प्रमा' नहीं है, वह तो 'अप्रमा' है। संक्षेप में यही कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—एक निर्विकल्पक यानि वस्तुमात्र का ज्ञान, जिसमें नाम-जात्यादि की योजना हुआ करती है।

प्रत्यक्ष के इन भेदों के अतिरिक्त हमारे नव्यन्याय के आचार्यों ने प्रकारांतर से दो और भी भेद किए हैं—लौकिक और अलौकिक। इनके ज्ञान के लिए किसी इंद्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं होती। इसे ही हमारे ऋषि-मुनियों ने अतीत-अनागत ज्ञान की संज्ञा दी है। नव्यन्यायानुमत यह लौकिक प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का है—बाह्य और आंतरिक। जबकि अलौकिक के तीन भेद होते हैं—सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति, ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति और योगजधर्म। ये सभी अलौकिक सन्निकर्षों के द्वारा उत्पन्न होते हैं । जब हम पदार्थों का जातिगत ज्ञान प्राप्त करते हैं तो यह सामान्य लक्षण है। प्राचीन न्याय सामान्यता के प्रत्यक्ष ज्ञान को स्वीकार करता है। गंगेश के अनुसार, सामान्यों के ज्ञान में बुद्धि के कार्य की विशेष महत्ता रहती है। किसी एक पदार्थ के जातिगत सामान्यधर्म के ज्ञान के द्वारा हम उस जाति के अन्य सभी पदार्थों को हर समय और हर स्थान में जानने में समर्थ होते हैं। इनमें अंतर्दृष्टिवाला योगज प्रत्यक्ष को मीमांसा दर्शन के अतिरिक्त शेष सभी आस्तिक तथा चार्वाक को छोड़ शेष दोनों नास्तिक दर्शनों ने भी स्वीकार किया है। परंतु प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में परस्पर भिन्नता दृष्टिगत होती है। जब अष्टांगयोग के अनुष्ठान से साधकों की आत्मा में विलक्षण शक्ति उत्पन्न हो जाती है, तब 'योगज-सन्निकर्ष' होता है। इसके माध्यम से योगी भूत-भविष्य-वर्तमान, स्थूल और सूक्ष्म, समीपस्थ और दूरस्थ सभी पदार्थों का प्रत्यक्ष करता है। यह मन का बोध तो है, पर मानस-प्रत्यक्ष से भिन्न है।

यौगिक प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का होता है—युक्त और युंजान। वैशेषिक दर्शन में इस प्रकार के ज्ञान को 'आर्ष' अथवा 'प्रातिभ ज्ञान' कहा गया है। मीमांसक भूत-भविष्यादि पदार्थों का ज्ञान केवल वेदों के द्वारा ही मानते हैं। योगदर्शन में चित्त को स्थिर करने के उपायों का तथा योग की विभिन्न अवस्थाओं (भूमियों) का विशद विवेचन किया गया है। वस्तुत: योग दर्शन योगज-प्रत्यक्ष के प्रयोगात्मक स्वरूप की व्याख्या मनोवैज्ञानिक धरातल पर करता है। वेदांत दर्शन 'योग' अर्थात् समाधि के द्विविध रूपों के साथ-साथ 'जीवसाक्षी' तथा 'ईश्वर साक्षी' का भी विवेचन करता है। इस प्रकार भारतीय दर्शन में स्वीकृत योगज-प्रत्यक्ष की प्रक्रिया आधुनिक 'परामनोविज्ञान' के अतींद्रिय श्रवण (क्लेयर ऑडियन्स), अतींद्रिय दृष्टि (क्लेयर वोयन्स), देखने-सुनने व स्पर्शादि करने पर असाधारण अनुभूति (हाइपर एस्थेसिया), इन्ट्यूशन, टैलीपैथी, ऍक्सटीसी (हर्षातिरेक) आदि विषयों के अनुसंधान के लिए पर्याप्त सामग्री प्रदान करती है।

पाश्चात्य तर्कशास्त्री 'प्रत्यक्ष' का प्रतिपादन नहीं करते, उनके अनुसार सत्य का ज्ञान हमें अंतर्दृष्टि और अनुमान दो मार्गों से होता है, अत: प्रत्यक्ष की आवश्यकता नहीं। जबकि नैयायिक उसे ज्ञान के एक महत्त्वपूर्ण साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। न्याय को हेतुविज्ञान, हेतुशास्त्र या हेतुविद्या कहने का कारण इसका अनुमान अवयव ही है, जो इसका मुख्य विषय भी है। इसी पर अनुमानरूपी तर्क निर्भर करता है।

अनुमान

तर्कशास्त्र में 'अनुमान' का सिद्धांत आज भी अति कठिन प्रतीत होता है। गंगेश ने इसकी सूक्ष्म परीक्षा की है। इस दिशा में उनका ध्यान पश्चिम के तर्कशास्त्रियों की अपेक्षा बहुत पूर्व ही आकृष्ट हो गया था।

'अनुमान' नाम ही अपने से पूर्व किसी अन्य ज्ञान की 'प्रत्यक्ष' की संभावना को व्यक्त करता है, अन्यथा वह 'अनु' (पश्चात, बाद) का 'मान' (ज्ञान) कैसे होता? 'व्याप्ति' लिंग-लिंगी का साहचर्य संबंध होता है, जो प्रत्यक्ष ज्ञान से ही उद्‌भूत होता है। यही व्याप्तिज्ञान नव्यन्याय के अनुसार अनुमान का मूलाधार है। अतएव नव्यन्याय के ग्रंथों में 'व्याप्तिबलेन अर्थगमकं लिंगम्' तथा 'लिंग-परामर्शोऽनुमानम्' कहा गया। अर्थात् व्याप्ति के बल से अर्थ प्रतीति कराने वाले को लिंग तथा लिंग के परामर्श को अनुमान कहते हैं ।

प्राचीन न्याय के अनुसार अनुमान की व्याख्या बहुत ही सीमित मिलती है, जिसके अनुसार अनुमान तीन प्रकार का कहा गया है—पूर्ववत, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। इसीलिए सूत्रकार ने लिखा है—'अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्'। वात्स्यायन ने इन तीनों की कई प्रकारों से व्याख्या की है, जिससे अनुमान के विषय में तीन तत्त्व सामने आते हैं—लिंग-लिंगी संबंध का ज्ञान, लिंग-लिंगी संबंध की स्मृति तथा लिंग दर्शन। जबकि नव्यन्याय- दृष्ट्या इन तत्त्वों के आधार पर अनुमान की एक गगनचुंबी अट्टालिका तैयार की गई है। गंगेश से लेकर उनके अनुयायियों की प्रतिभा-प्रसूत प्रबल उक्तियों एवं युक्तियों से जिस अनुमान का इतना महान् मान गढ़ा गया, उससे न्याय का सम्मान सदा सुतरां समृद्ध रहेगा।

प्रकारांतर से कहें तो अनुमान का वर्गीकरण न्यायदर्शन में तीन प्रकार से किया गया है। प्राचीन न्याय दो प्रकार का वर्गीकरण करता है। उसके अनुसार एक मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण है, जिसमें अनुमान को दो प्रकार का माना गया है—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। तथा व्याप्ति के स्वरूप के आधार पर वह अनुमान के तीन भेद करता है—पूर्ववत, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। जबकि नव्यन्याय इसी व्याप्ति के स्वरूप के आधार पर तीन प्रकार के अनुमानों का वर्गीकरण तो करता है, पर प्राचीन न्याय के

नामों से भिन्न नाम देते हुए वह उसे अधिक वैज्ञानिक मानता है। इसके अनुसार केवलान्वयी, केवल व्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी—ये तीन अनुमान हैं।

प्राचीन सूत्रकार के उपर्युक्त सूत्र में आए हुए 'तत्पूर्वकम्' पद की बड़ी विस्तृत एवं युक्ति-युक्त व्याख्या की गई, जिसके अनुसार अनुमान के पूर्व जो ज्ञातव्य बातें निश्चित की गईं, उनमें 'व्याप्ति' का सर्वाधिक प्रमुख स्थान है।

व्यक्ति अपने शैशव से ही घर की रसोई में आग और धुँए को साथ-साथ देखता आया है। एक ही वस्तु को बार-बार देखना उसे यह बता देता है कि जहाँ धुआँ है वहाँ आग भी होती है—'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः'। इसी को न्यायशास्त्र में व्याप्ति कहा गया है, जिसने यह सिद्ध किया है कि धुआँ आग का लिंग (चिन्ह) है। न्याय के इसी सिद्धांत के आधार पर हम इस मुहावरे का भी प्रयोग करते हैं कि 'बिना आग का धुआँ नहीं उठता' अर्थात् वस्तुस्थिति के बिना प्रवाद नहीं फैलता।

व्याप्ति की अनेक परिभाषाओं पर विचार करने के पश्चात् गंगेश यह निष्कर्ष निकालते हैं कि निरंतर साहचर्य साध्य के साथ हेतु की सह-उपस्थिति है, जो उस निरपेक्ष अभाव की प्रतिकृति के स्वरूप से उपाधिवान् नहीं है, जो हेतु के साथ उसी स्थिति में रहती है, किंतु उस प्रतिकृति के संबंध में भिन्न स्थिति में रहती है[9]।

'अनुमान' लिंग-परामर्श अर्थात् लिंग के तीसरे ज्ञान का नाम है। जहाँ लिंग और लिंगी दोनों की विद्यमानता हो, वहाँ वह नहीं होगा। क्योंकि वह तो प्रत्यक्ष का विषय है, 'प्रति' (हरेक) 'अक्ष' (आँख) के द्वारा दृष्ट है। तात्पर्य यह कि जहाँ केवल लिंग (चिन्ह) प्रत्यक्ष होता है, लिंगी अदृश्य रहता है, अनुमान वहीं होता है। विद्वानों के मत में अनुमान में अनुमेयार्थ (लिंगी) के अप्रत्यक्ष होने से वर्णन का विशेष महत्त्व है।

सामान्यतः नैयायिकों के मत में अनुमान प्रमाण से अर्जित ज्ञान 'अनुमिति' कहलाता है और उस अनुमिति का करण यानि उत्कृष्टतम साधन 'अनुमान' है। अतः कहा है 'अनुमितिकरणम् अनुमानम्'। इसी परिभाषा के अनुसार अनुमिति का उत्कृष्टतम साधन लिंग परामर्श भी माना गया है—'लिंग परामर्शोऽनुमानम्'। यह अनुमान, वर्णन या प्रयोजन के आधार पर दो प्रकार के कहे गए हैं—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। जब अनुमान प्रक्रिया का वर्णन दूसरे को समझाने के लिए पंचावयवयुक्त (प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमनयुक्त) वाक्य से करते हैं, तब वह 'परार्थानुमान' होता है और यदि वर्णन के बिना ही अपने लिए केवल अनुमान करके विरत हो जाते हैं तो उसे 'स्वार्थानुमान' कहा जाता है।

यहाँ संक्षेप में परार्थानुमान के अवयवों को जानना अप्रासंगिक न होगा कि ये अवयव क्या हैं। पंचावयवों में (1)'प्रतिज्ञा' वह विषय है जिसे सिद्ध करना होता है (पहाड़ में आग लगी है)। (2) 'हेतु' अथवा कारण (क्योंकि इसमें धुआँ है)। (3) 'उदाहरण' अथवा सादृश्य-निदर्शक दृष्टांत (जहाँ-जहाँ धुआँ दिखाई देता है, वहाँ-वहाँ आग भी रहती ही है, जैसे रसोई घर)। (4) 'उपनय' अथवा प्रयोग (इसी प्रकार का यह पहाड़ भी है)। (5) 'निगमन' अथवा निष्कर्ष (अतः पहाड़ पर आग लगी है)। वात्स्यायन के अनुसार कुछ तार्किकों की सम्मति में परार्थानुमान के दश अवयव हैं। उपर्युक्त पाँच अवयवों के अतिरिक्त—(1) जिज्ञासा अर्थात् प्रतिज्ञा के संबंध में सत्यज्ञान की खोज निकालने की अभिलाषा (संपूर्ण पहाड़ में आग लगी है या उसके कुछ हिस्सों में ही)। (2) संशय अर्थात् कारण के विषय में संदेह (जिसे हम धुआँ समझ रहे हैं, कदाचित् वह केवल भाप ही तो नहीं)। (3) शक्यप्राप्ति अर्थात् दृष्टांत की, निष्कर्ष को समर्थित करने की योग्यता (क्या धुआँ सदा आग के साथ रहता है, तपे हुए लाल लोहे के अंदर आग होने पर भी धुआँ तो नहीं रहता)। (4) प्रयोजन अर्थात् निष्कर्ष निकालने का प्रयोजन तथा (5) संशय-व्युदास अर्थात् हेतु के साध्य के साथ संबंध और पक्ष में उसकी विद्यमानता के बारे में सब प्रकार के संशयों का निवारण।

परंतु परार्थानुमान के ये पाँच अतिरिक्त अवयव भले ही हमारे ज्ञान को विशद करने में सहायक हों, मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को दृष्टि में रखते हों ; पर वात्स्यायन के मत में सिद्धि के लिए अनावश्यक हैं। उद्योतकर का भी यही मानना है कि ये सब विषय-सिद्धि अथवा तर्क का अनिवार्य अवयव नहीं हैं।

परार्थानुमान के अवयवों की संख्या के विषय में मतभेद होते हुए भी, इस विषय में सभी तार्किक सहमत हैं कि एक दोष-विहीन अनुमान के लिए दो अवयव अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं—पहला व्याप्ति (व्यापक संबंध) और दूसरा पक्षधर्मता। अथवा साध्यपद एवं पक्षपद। इन दोनों का परस्पर संश्लेषण आवश्यक है साथ ही लिंग-परामर्श अथवा चिन्ह का विचार अनुमान प्रक्रिया का एक अनिवार्य तत्त्व है। गंगेश के अनुसार, व्याप्ति अपने आप में अनुमान-जन्य ज्ञान का परोक्ष कारण होता है और लिंग-परामर्श अथवा चिन्ह का विचार अंतिम कारण (चरम कारण) अथवा मुख्य कारण[10]। तात्पर्य यह है कि साध्य के साथ संबंध हेतु-पक्ष रहता है—'व्याप्तिविशिष्ट-पक्षधर्मताज्ञानम्'[11], वही हमें निष्कर्ष तक ले जाता है। परंतु अनुमान की प्रक्रिया एक अखंड प्रक्रिया है।

अनुमान की प्रक्रिया को जब वर्णनात्मक रूप दिया जाता है, तब उसमें मुख्यतया तीन पद होते हैं, जिन्हें अनुमान की अभिव्यक्ति के पद भी कहते हैं। नव्यन्याय के इन्हीं पक्ष, साध्य और हेतु को पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी Minor Term, Major Term और Middle Term की संज्ञा दी है। जब व्याप्ति के बल पर खड़ा हुआ अनुमेयार्थ का 'चिन्ह' हमारे साध्य का साधन बन जाता है, तब व्याप्ति के अन्वय प्रधान, व्यतिरेक प्रधान या उभयात्मक (दोनों की समान प्रधानता) होने से उपर्युक्त हेतु के तीन भेद हो जाते हैं—केवलान्वयी, केवल व्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी। नव्यन्याय-प्रतिपादित इस वर्गीकरण को जानने के लिए सर्वप्रथम अन्वय-व्यतिरेक को समझना पड़ेगा।

'अन्वय' साध्य-सहचारमूलक व्याप्ति है तथा 'व्यतिरेक' साध्य-भावमूलक व्याप्ति। ये दोनों व्याप्ति के ही प्रकार हैं। 'यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः'—यही अन्वयव्याप्ति है, जबकि व्यतिरेकव्याप्ति का उदाहरण 'यत्र-यत्र वह्नयभावः तत्र-तत्र धूमाभावः' है।

जिसमें केवल अन्वय दृष्टांत या हेतु में साध्य-सहचारमूलक व्याप्ति हो, वह 'केवलान्वयी' है और जहाँ व्यतिरेकमूलक व्याप्ति होती है अर्थात् जहाँ साध्याभाव और हेत्वाभाव हो वहाँ 'केवल व्यतिरेकी' होगा। इसी प्रकार जहाँ अन्वयदृष्टांतमूलक व्याप्ति और व्यतिरेकमूलक व्याप्ति दोनों हों, वहाँ 'अन्वय-व्यतिरेकी' होगा। उदाहरणार्थ—जो-जो प्रमेय (ज्ञेयता) है, वह अभिधेय (संज्ञा) भी है। 'घट' प्रमेय है, अतः वह अभिधेय है। यहाँ दोनों में अन्वय व्याप्ति होने से केवलान्वयी है। जीवित शरीर आत्मायुक्त होता है, क्योंकि वह प्राणादिमान है। जो आत्मायुक्त नहीं होता, वह प्राणादिमान् भी नहीं होता, यथा 'घट-पट' आदि। जीवित शरीर प्राणहीन नहीं होता, अतः वह आत्माहीन नहीं है। यहाँ प्राणादिमान हेतु केवल-व्यतिरेकी है, क्योंकि उसमें अन्वय व्याप्ति नहीं है। सभी धूमवान् पदार्थ वह्निमान होता है, पर्वत धूमवान् है, अतः वह वह्निमान है—यहाँ अन्वयरूप से तथा जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं, वहाँ-वहाँ धूम भी नहीं। इस पर्वत में धूम है, अतः वहाँ वह्नि भी है—यहाँ पर व्यतिरेक रूप से व्याप्ति है।

तात्पर्य यह कि केवलान्वयी अनुमान में साधन तथा साध्य में नियम साहचर्य होता है। इसकी व्याप्ति केवल अन्वय के ही द्वारा स्थापित होती है तथा यहाँ व्यतिरेक (निषेध) का नितांत अभाव होता है। जब हेतु साध्य के साथ केवल निषेधात्मक रूप से संबद्ध रहे तो केवल व्यतिरेकी अनुमान होगा । अन्वय-व्यतिरेकी में हेतु और साध्य का संबंध दोनों ही प्रकार से अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा स्थापित होता है। इन में अन्वयव्यतिरेकी के भी 'पक्षधर्मता' आदि पाँच रूप हैं।

हेतुओं की परीक्षा का आधार पाँच रूपों के अतिरिक्त तीन दोष भी हैं—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव। हमारे नैयायिकों ने हेतु या लक्षण को सद्धेतु या सल्लक्षण बनाने के लिए उसे इन तीन दोषों से मुक्त रखने की बात कही है। इसके अतिरिक्त जो हमारी परीक्षा में खरे नहीं उतरते और हेतु का जामा पहनकर अनुमान में घुस बैठते हैं, वे 'हेत्वाभास' कहलाते हैं। अर्थात् वहाँ हेतु तो नहीं रहता, पर हेतु का आभास भर होता है।

प्राचीन न्याय के आधार पर जहाँ सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम तथा अतीतकाल—ये पाँच हेत्वाभास हैं; वहीं तत्त्वचिंतामणि के अनुयायियों ने संख्या तो इतनी ही रखी है, पर इनके नामों में कुछ उलट-फेर कर दिए हैं। जैसे केशव मिश्र के अनुसार असिद्ध, विरुद्ध, अनैकांतिक, प्रकरणसम और कालात्ययापदिष्ट (अतीत काल) हैं तो तर्कसंग्रहकार के मत में सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और

बाधित—ये पाँच हेत्वाभास गिनाए गए हैं। इनमें जहाँ कुछ प्राचीन न्याय के अनुकूल हैं, उससे मिलते-जुलते हैं; वहीं कुछ भेदों में सर्वथा नवीनता देखी जाती हैं। परंतु हेत्वाभास की व्याख्या में नव्य नैयायिक मूलन्याय की तुलना में बहुत आगे बढ़ गए प्रतीत होते हैं। जिन्होंने इस विषय पर नवीन दृष्टि से विचार किया है।

(1) सव्यभिचार हेत्वाभास—व्यभिचार का अर्थ दोष है, अतः जिस हेतु में दोष हो, वह सव्यभिचार हेत्वाभास कहलाता है। इसे ही अनैकांतिक दोष भी कहते हैं। एकनिष्ठ को एकांतिक कहते हैं और जिसमें एकांतिकता का अभाव हो, वह अनैकांतिक कहलाता है। नव्यनैयायिकों के मत में सव्यभिचार अर्थात् अनैकांतिक दो प्रकार का निर्धारित किया गया—(क) साधारण अनैकांतिक यानि पक्ष-सपक्ष एवं विपक्ष में साधारण रूप से रहनेवाला। तथा (ख) असाधारण अनैकांतिक, जो सपक्ष और विपक्ष में न रहकर केवल पक्ष मात्र में रहता हो।

(2) विरुद्ध—साध्य में न रहकर विपरीत वस्तु में जो व्याप्त रहता है, वह विरुद्ध हेत्वाभास है।

(3) सत्प्रतिपक्ष या प्रकरण सम—न्यायसूत्रकार के प्रकरणसम का नव्यनैयायिकों ने सत्प्रतिपक्ष नाम दिया है। यह प्राचीन न्याय के नामकरण की अपेक्षा अधिक बोध्य और स्पष्ट है। हेतु के पक्षधर्मता आदि पाँच रूपों में एक भेद 'असत्प्रतिपक्ष' भी है। जिस हेतु के मुकाबले साध्य के विपरीत को सिद्ध करनेवाला दूसरा कोई हेतु न प्रस्तुत किया जा सके, उसे 'असत्प्रतिपक्ष' कहा जाता है, जो सद्धेतु का गुण है। अतः 'सत्प्रतिपक्ष' अपने आप में ही एक दोष है। जहाँ साध्य के लिए दिए गए हेतु के बदले साध्य से उलटा सिद्ध करने के लिए हेतु उपस्थित किया जा सकता है, वह सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास है।

(4) असिद्ध—जहाँ हेतु के पक्ष में विद्यमानता निश्चित नहीं रहती, वहाँ असिद्ध हेत्वाभास होता है। नव्यनैयायिकों ने इसके तीन भेद किए हैं—आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध तथा व्याप्यत्वासिद्ध।

(5) बाधित अथवा कालात्यापदिष्ट—न्यायसूत्रों में दिया गया 'कालात्ययापदिष्ट कालातीतः' का जो भाष्य किया गया है, वह न केवल दुरूह है, बल्कि कई स्थलों पर उलझे हुए भी हैं। परंतु 'कालातीत' के स्थान पर नव्यनैयायिकों ने जो 'बाधितविषय' हेत्वाभास रखा है, वह अधिक स्पष्ट और सरल है। इनके अनुसार 'बाधित' वह हेत्वाभास है जहाँ पक्षमें साध्य का अभाव प्रमाणांतरों से ही स्पष्ट हो जाता हो—'यस्य साध्याभावः प्रमाणांतरेण निश्चितः स बाधितः'(तर्कसंग्रह)।

उपमान

प्रत्यक्ष और अनुमान के बाद तीसरा प्रमाण 'उपमान' ही है। सांख्यशास्त्रियों के मत में यह कोई प्रमाण नहीं है, जबकि वैशेषिक दर्शनवाले उपमान को अनुमान के अंतर्गत ही मानते हैं। परंतु नैयायिकों के मत में सादृश्य के आधार संज्ञा-संज्ञि सम्प्रत्यक्ष को व्याप्ति आदि के अभाववश अनुमान तो कह नहीं सकते, अतः यह भी पृथक् विषय होने के कारण स्वतंत्र 'प्रमाण' ही है। अतएव न्याय दर्शन में प्रज्ञात (ज्ञात), सामान्य (समानता) और प्रज्ञपनीय (ज्ञातव्य) के विषय में जो ज्ञान है, वही 'उपमान' है—'प्रसिद्ध साधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्'[12]। उपमान का अर्थ समानता का अधिष्ठान है। अर्थात् जहाँ पर उपमान या साम्य का आधार रखकर ज्ञानार्जन किया जाता है, उस ज्ञान का कारण 'उपमान' प्रमाण है। यहाँ जो ज्ञानोपलब्धि होती है, वही 'उपमिति' कहलाती है। फलतः बहुत से नवीन आचार्यों ने 'उपमितिकरणम् उपमानम्'—ऐसा उपमान का लक्षण किया है। अर्थात् समानता के आधार पर अर्जित किए हुए ज्ञान के उत्कृष्टतम साधन को 'उपमान' माना गया है।

वस्तुतः उपमान अथवा तुलना, वह साधन है जिससे हम किसी पूर्णतया ज्ञात पदार्थ के सादृश्य से किसी अन्य पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करते हैं। यह सुनकर कि जंगली बैल (गवय) गाय के समान होता है, हम अनुमान करते हैं कि वह पशु जो गाय के सदृश दिखाई देता है 'गवय' है—

"प्रसिद्धवस्तु-साधर्म्यादप्रसिद्धस्य साधनम्।
उपमानं समाख्यातं यथा गौगवयस्तथा।।"[13]

उपमान के तर्क में दो अवयव रहते है—(1) ज्ञेय पदार्थ का ज्ञान और (2) सादृश्य का प्रत्यक्षज्ञान। इनमें प्राचीनन्यायवाले जहाँ पहले को नए ज्ञान का मूल कारण मानते थे, वहीं नव्यनैयायिकों ने दूसरे यानि सादृश्यज्ञान को अधिक महत्त्व देना प्रारंभ किया। इसीलिए तर्कसंग्रहकार नें 'सादृश्यज्ञानमुपमानम्' कहा है।

प्रत्यक्ष और अनुमान के विषय में जितना विस्तृत और प्रौढ़ विचार नव्यन्याय में देखा जाता है, उतना उपमान का नहीं। आचार्यों के उन विचारों, व्याख्याओं व मीमांसाओं से प्रत्यक्ष व अनुमान दोनों में तर्क ने अनेक परिवर्तन किए, कई मौलिक तत्त्व भी उभर कर सामने आए, सूक्ष्म विवेचन व विश्लेषणों के आधार पर अनुमान के कई अंग-प्रत्यंगों से नव्यन्याय का साहित्य श्रीसमृद्ध हुआ। परंतु वैसा विचार इस उपमान के बारे में देखने को नहीं मिलता।

शब्द

ज्ञान के मुख्य स्रोतों में से 'आप्त-प्रमाण' भी एक माना गया है। हम ऐसी अनेक वस्तुओं के अस्तित्व को, दूसरे के प्रामाणिक कथन के आधार पर स्वीकार कर लेते

हैं, जिन्हें स्वयं हमने तो देखा नहीं है और न उनके विषय में विचार ही किया है। हमें कुछ प्रचलित साक्ष्य, ऐतिहासिक परंपरा तथा धर्मशास्त्रों की दिव्यवाणी के आधार पर बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार की ज्ञानप्राप्ति की विधि में तार्किक दृष्टि से जो विवेचनीय विषय सन्निविष्ट हैं, उनके विषय में शब्द अथवा आप्त-प्रमाण के अंतर्गत विचार किया जाता है।

न्यायशास्त्र में कहा गया है कि आप्त का उपदेश ही 'शब्द' है—'आप्तोपदेशः शब्दः'। परंतु नव्यनैयायिकों ने इसमें कुछ जोड़-घटाव किया है। ये लोग लक्षणगत 'उपदेश' को हटाकर उसके स्थान में 'वाक्य' पद को जोड़ दिए हैं, अर्थात् आप्तवाक्य ही शब्द है—'आप्तवाक्यं शब्दः'। वस्तुतः पूर्वापेक्षया परवर्ती लक्षण ही अधिक ठोस और समुचित प्रतीत होता है। 'वाक्य' कहने से 'पद' का भी अंतर्भाव हो जाएगा तथा शब्द के नित्यत्वानित्यत्व का प्रसंग भी अविलंब हाथ आ सकेगा।

लक्षण में 'आप्त' का अर्थ है यथाभूत अर्थ को यथावत् कहना अर्थात् जो चीज जैसी है, उसे उसी रूप में बताना आप्त का काम होता है। जबकि 'वाक्य' का लक्षण नव्यनैयायिकों का अपना अलग है। यह व्याकरण शास्त्रानुसार नहीं चलता, जहाँ 'एक तिङ्वाक्यम्' कहा गया है। एक तिडंत अथवा एक क्रियावाला वाक्य व्याकरण में तो चलेगा, संभवतः वहाँ वही उपयोगी भी हो। क्योंकि औचित्यानौचित्य का विचार वह दूसरों पर छोड़ देता है। परंतु नैयायिक तो फूँक-फूँक कर क़दम रखनेवाले होते हैं । उन्हें वैसी परिभाषा मान्य नहीं, जिसका प्रत्याख्यान किया जा सके। अतः इन्होंने आकांक्षा-योग्यता-संन्निधियुक्त पदों के समूह को वाक्य कहा है। इनके मत में ऐसे पदों का समूह 'वाक्य' होता है, जो अर्थ को पूरा करने के लिए श्रोता के हृदय में उठती 'आकांक्षा' को पूरा करनेवाले परस्पर अन्वय की 'योग्यता' एवं 'सन्निधि' को रखता हो।

आप्तपुरुष के द्वारा प्रयुक्त इस प्रकार के वाक्य को नव्यन्याय में 'शब्द प्रमाण' माना गया है। यह प्रमाणता लोक और वेद—दोनों जगह समान चलती है। 'न सर्वः सर्वं वेत्ति' के न्याय से आप्त-वाक्य तो अपेक्षित है ही।

नैयायिक लोग वैयाकरणों की भाँति 'शब्द-ब्रह्म' को नहीं मानते, शब्द को नित्य नहीं कहते। बल्कि इनके मत में 'शब्द' संयोग-विभाग-जन्य होने के कारण अनित्य होते हैं। साथ ही सभी अनित्य पदार्थ त्रिक्षणावस्थायी होते हैं। एक क्षण में उसकी उत्पत्ति, दूसरे में स्थिति और तीसरे क्षण में उसका नाश किंवा लय हो जाते हैं।

इन प्रमाणों के अतिरिक्त नैयायिकों ने मीमांसकों के दो प्रमाणों (अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि या अभाव) तथा पौराणिकों के दो प्रमाणों (ऐतिह्य और संभव) को सर्वथा निराकृत कर दिया है। साथ ही प्रमाणों के द्वारा जिस ज्ञान का अर्जन होता है, उसे इन्होंने अपने प्रामाण्यवाद प्रकरण में 'परतः प्रमाण' माना है, जबकि मीमांसक

लोग उसे 'स्वतः प्रमाण' मानते हैं। इसी तरह असत्कार्यवादी न्यायदर्शन में कार्य-कारण की सत्ता को सर्वथा पृथक् माना गया है। नव्य नैयायिकों ने कार्य और कारण की परिभाषा करते हुए कहा है कि जो नियमतः कारण से पश्चाद्वर्ती हो और अन्यथासिद्ध न हो, उसे कार्य कहते हैं—''अन्यथासिद्धनियतपश्चाद्भावित्वं कार्यत्वम्'' तथा नियमेन कार्य से पूर्ववर्ती हो एवं अन्यथासिद्ध न हो, उसे कारण कहते हैं—''अन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम्''। जबकि कार्य की उत्पत्ति में समवायि, असमवायि एवं निमित्त—ये तीन कारण भी नैयायिकों के यहाँ विशेष रूप से माने गए हैं।

नव्यन्याय, हमारे सामने ज्ञान प्राप्ति के इन चार साधनों की ही मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करता है, तार्किक तथ्यों की व्याख्या उपस्थित करता है, जिससे सत्य के अन्वेषण में विविध सिद्धांतों की स्थापना होती है । इस कारण तर्कशास्त्र या न्यायशास्त्र प्रमाण का विज्ञान है, जो साक्षी का मूल्य निर्धारण करता है।

संदर्भ

1. मिथिलांक, पृ. 29 पर पं. गौरीनाथ झा का लेख।
2. त.चि., पृ. 552
3. सि.मु., पृ. 207
4. न्या. सू., 1/1/3
5. वही
6. वही, 1/1/4
7. Dr. Dasgupta, HIP, p. 334
8. तर्कभाषा, केशवमिश्र, प्रत्यक्षखंड
9. त.चि., पृ.2
10. वही
11. तर्क संग्रह, पृ. 44
12. न्या. सू., 1/1/6
13. षड्दर्शनसमुच्चय, हरिभद्रसूरि, पृ. 23

15

तत्त्वचिंतामणि की व्याख्या-परंपरा

न्यायशास्त्र की दो शाखाएँ हैं, तत्त्वमूला पदार्थ मीमांसा और तर्कमूला प्रमाणमीमांसा। इनमें दूसरे का प्रचलन, अध्ययन-अध्यापन इतना व्यापक हुआ कि सामान्यतः न्यायदर्शन का पर्याय ही बन गया 'नव्यन्याय', जिसका मूल ग्रंथ है गंगेशोपाध्यायकृत 'न्यायतत्त्वचिंतामणि' अथवा 'तत्त्वचिंतामणि', जिसे 'चिंतामणि' या 'मणिग्रंथ' के नाम से भी जाना जाता है। आज के वैज्ञानिक युग में यही तर्कप्रधानशास्त्र (नव्यन्याय) सर्वत्र पठन-पाठन में प्रचलित है। तत्त्वचिंतामणि के रचनाकर गंगेश ने गौतमीय न्याय में एक नवीन धारा को जन्म दिया, जिसमें भाव-सर्वस्व की शैली पर मात्र चार प्रकार के प्रमाणों पर ही गंभीर विचार प्रस्तुत किया गया है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। परंतु इतने पर ही यदि इस ग्रंथ की टीका-उपटीकाओं को मिलाकर देखा जाए तो निश्चय ही यह संसार का सबसे विशालकाय ग्रंथ सिद्ध होगा।

तत्त्वचिंतामणि में तर्क संबंधी निहित नई-विचारधारा ने तार्किकों के मानस में निश्चय ही एक नई क्रांति उत्पन्न कर दी। परवर्ती तत्त्व-चिंतकों के मस्तिष्क पर इसका प्रभाव आनेवाली कई शताब्दियों तक बना रहा। विद्वानों की परंपरा इस निगूढ़ उलझन को समझने-समझाने की चेष्टा में शताब्दियों तक लगी रही। इस ग्रंथ पर मिथिला, बंगाल से लेकर सुदूर दक्षिण के प्रदेशों तक (गुजरात में भी) अनेकों भाष्य, टीका, उपटीका एवं समालोचनात्मक टिप्पणियाँ लिखी गईं, प्रकरण ग्रंथ लिखे गए, उस पर भी व्याख्योपव्याख्याएँ लिखी जाने लगीं। जिससे तीन-चार सौ वर्षों की अवधि में तत्त्वचिंतामणि से संबंधित नाना ग्रंथरत्नों से परिपूर्ण विशाल साहित्य-भंडार प्रस्तुत हो गया।

गंगेश के जीवन काल अथवा कुछ बाद से लेकर विगत शताब्दी तक देश के कोने-कोने के विद्वानों ने साक्षात् किं वा परंपरया तत्त्वचिंतामणि की व्याख्या करके स्वयं को कृतकृत्य माना है। ऐसे प्रकांड पंडितों के मत में इस ग्रंथरत्न के समान दूसरा

कोई भी मूल ग्रंथ नहीं है। वस्तुतः इस ग्रंथ को छोड़ अन्यत्र विवक्षित विषयों का पूर्णतया प्रतिपादन दुर्लभ ही है। इस ग्रंथ पर विद्वानों की ऐसी रुचि और तन्मयता रही कि चिंतामणि के एक-एक वाक्य को लेकर व्याख्याताओं ने शताधिक पृष्ठों में व्याख्यान किया है। इससे मणिग्रंथ के महत्त्व, उसकी उपयोगिता और गंभीरता को आँका जा सकता है ।

तत्त्वचिंतामणि पंडितों का परीक्षा ग्रंथ है, इसलिए इस पर टीका-उपटीकाओं का अंत नहीं है। संभवतः संस्कृत वाङ्मय में इतनी टीकाएँ अन्य किसी भी ग्रंथ पर उपलब्ध नहीं होती।

मणिकार ने अपनी विशेष मेधा से प्राचीनाचार्यों के तात्पर्य को एकत्रित कर दूसरों के लिए सुलभ बनाया। परंतु यह सूर्य की टीका भानु साबित हुई । न्यायदर्शन में, विशेषकर अनुमानभाग में ज्ञातव्य जितने भी विषय हैं, वे सब चिंतामणि ग्रंथ से हस्तामलक हो जाते हैं। इसीलिए उन्होंने मंगलाचरण में कहा है कि सीमित शब्दों में कहने पर भी उन्होंने अपने सिद्धांत को व्यक्त करने में कोई कंजूसी नहीं दिखाई है और न ही दूसरे के पक्ष को अधिक लताड़ा है। उनके इसी 'मितेन वचसा' के कारण तत्त्वचिंतामणि कालक्रम से दुरूह होता चला गया, जिसके भाव को व्यक्त करने के लिए समय-समय पर अनेक व्याख्याएँ लिखी गईं।

तत्त्वचिंतामणि की व्याख्या-परंपरा में तीन परंपराएँ मुख्य हैं—मैथिल परंपरा, बंगाल परंपरा और दाक्षिणात्य परंपरा। परंतु मिथिला एवं बंगाल में कुछ ऐसी भी परंपराएँ हैं, जिन्हें हम विस्मृत नहीं कर सकते। ऐसी परंपराओं में आती हैं—प्रभा-परंपरा, आलोक-परंपरा, दीधिति-परंपरा, रुचिदत्ती या प्रकाश परंपरा, जागदीशी परंपरा, भवानंदी परंपरा, माथुरी परंपरा एवं गादाधरी परंपरा।

तत्त्वचिंतामणि के ऊपर सर्वप्रथम ग्रंथकार के ही पुत्र वर्धमान उपाध्याय ने 14 वीं शताब्दी में 'प्रकाश' नामक व्याख्या की रचना की[1]। तत्त्वचिंतामणि की अध्यापन-परंपरा को भी चलाने का श्रेय इन्हें ही जाता है। परंतु यह दुर्भाग्य ही है कि इनकी न तो 'प्रकाश' व्याख्या उपलब्ध होती है और न शिष्यों के नाम। इन्होंने उदयनाचार्य और और श्रीवल्लभाचार्य के ग्रंथों पर जो व्याख्याएँ की हैं, उनमें तत्त्वचिंतामणि के सिद्धांतों का परिष्कार और समर्थन देखा जाता है। प्रायः तत्त्वचिंतामणि के प्रतिपाद्य विषयों का यथाप्रसंग इनकी व्याख्याओं में 'अस्मत्पितृचरणास्तु' कहकर विवेचन देखा जाता है। इससे विद्वानों व समीक्षकों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि तत्त्वचिंतामणि पर वर्धमान की व्याख्या अवश्य ही रही होगी। इनकी अन्य ग्रंथों पर की गई व्याख्याओं का नाम 'प्रकाश' पाया जाता है, अतः तत्त्वचिंतामणि पर भी इनकी व्याख्या का नाम 'प्रकाश' ही रहा होगा—ऐसी हमारी धारणा है।

इनके शिष्यों के संबंध में केवल अनुमान से ही कुछ काम लिया जा सकता है। यह निश्चित तो नहीं कह सकते पर त्वंत या त्वन्त्व उपाध्याय, वटेश्वर उपाध्याय, गंगादित्य उपाध्याय एवं घटेश उपाध्याय को इनके शिष्यों में रख सकते हैं। न जाने ये किनके शिष्य थे, पर अधिक संभावना वर्धमान के ही शिष्य होने की प्रतीत होती है।

त्वंत उपाध्याय की कोई रचना तो उपलब्ध नहीं होती, पर उनकी दो कृतियों का उल्लेख परवर्ती ग्रंथों में अवश्य पाया जाता है। ये ग्रंथ हैं तत्त्वचिंतामणि की व्याख्या और कुसुमांजलि की व्याख्या 'मकरंद'। इनमें 'मकरंद' का उल्लेख आमोदकार शंकर मिश्र (15 वीं शताब्दी) ने तथा तत्त्वचिंतामणिव्याख्या का पक्षधरोद्धारकार पद्मनाभ मिश्र (16 वीं शताब्दी) ने किया है। मिश्रजी व्याप्तिसिद्धांतलक्षणावसर में लिखते हैं—'तथापि वह्निघटोभयवानसौ धूमादित्यत्रातिव्याप्तिं वारयितुं यदवच्छिन्नाधिकरणत्वावच्छेदेन साध्यसामानाधिकरण्यस्यावश्यं वक्तव्यतया पूर्वप्रतीक वैयर्थ्यस्य **त्वंतमते** दूषणत्वादिति विचारसंक्षेपः'। इसी शतक में अवस्थित रहे बंगीय विद्वान् प्रत्यक्षालोक-प्रसारिणी व्याख्याकार कृष्णदास सार्वभौम ने भी इनके मतों को उद्धृत किया है—''अत्र **तन्त्वोपाध्यायाः**—नन्वनुमानं प्रवर्त्तकं वा परिशेषानुमानविशेषणीभूतसफल- त्वसाधकं वा ..... इति दूषणमाहुः''। इन उद्धरणों से यह तो निश्चित होता ही है कि इन्होंने तत्त्वचिन्तामणि पर अवश्यमेव कोई टीका लिखी होगी। साथ ही आलोककार जयदेव के द्वारा नाम्ना उद्धृत होनेसे ये उनके पूर्ववर्ती भी सिद्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त रामपतिसुत विष्णुपति निश्चय ही वर्द्धमान के शिष्य थे, जिन्होंने तत्त्वचिंतामणि पर 'तत्त्वदीपन' टीका लिखी है।

इसी प्रकार वटेश उपाख्य वटेश्वर उपाध्याय की भी कोई कृति उपलब्ध नहीं होती, परंतु इन्होंने उदयन की तात्पर्यपरिशुद्धि पर जो 'दर्पण' नामक टीका लिखी थी, उसका उल्लेख कई जगह पाया जाता है। साथ ही पक्षधरकृत आलोक-व्याख्या से इनकी चिंतामणिटीका का भी परिचय प्राप्त होता है, जिसका खंडन पक्षधर ने अपनी व्याख्या आलोक में किया है। गंगादित्य और घटेश की व्याख्याएँ भी अनुपलब्ध हैं, पर उनके मतों को चिन्तामणि टीकाकार काशीनाथ विद्यानिवास ने अपनी 'विवेचन' टीका में उद्धृत किया है—''भट्टमुरारिन्यायमतेषु स्वग्राह्यप्रामाण्याप्रसिद्ध्या पार्थकमिति च ज्ञेयमिति नञगर्भपाठो **वर्द्धमानगंगादित्यानुमतः**''। तथा—''अतएव **घटेशोपाध्यायो** नियममेतं तुच्छीकृत्य दोषौत्कट्यात् पीतादिभ्रम इति स्वीचक्रे''। इन उद्धरणों से इन दोनों की चिंतामणिटीकाओं के अस्तित्व की निःसंदिग्धता सिद्ध होती है।

तत्त्वचिंतामणि की उपलब्ध टीकाओं में सर्वप्राचीन टीका है 'प्रभा', जिसके रचयिता यज्ञपति उपाध्याय, वटेश के प्रपौत्र और पक्षधर जयदेव के गुरु थे। यज्ञपति ने अपने पिता शिवपति से विद्या ग्रहण की थी, जिसका उल्लेख प्रभा-टीका के आदि में हुआ है—

"अनुसृत्य मतं सम्यक् पितुश्शिवपतेर्मया।
अनुमानपरिच्छेदे प्रभा संप्रति तन्यते।।"

प्रभा टीका का अनुमानखंड प्रो.गोपिका मोहन भट्टाचार्य के संपादन में विएना विश्वविद्याल से प्रकाशित है। इसके अन्य खंडों की मातृकाएँ उपलब्ध हैं। यद्यपि पक्षधर ने अपने 'आलोक' में चाचा हरिमिश्र को ही अपना गुरु बताया है, परंतु बंगीय परंपरा एवं मैथिल परंपरा की अनुश्रुतियों के आधार पर ही प्रायः शब्दकल्पद्रुम में यज्ञपति को पक्षधर का गुरु कहा गया होगा—'यज्ञपत्यु-पाध्यायच्छात्रः पक्षधरमिश्रश्चिन्तामणेरालोककारः[2]'। यह प्रतीत होता है कि पक्षधर, भले ही यज्ञपति से अध्ययन किए हों, पर वे उनका उतना सम्मान नहीं करते थे। अन्यथा न तो वे उनके और उनके प्रपितामह दर्पणकार वटेश के मतों का आलोक में खंडन करते और कहीं न कहीं हरिमिश्र की भाँति इनको भी अपना गुरु अवश्य बताते ।

यज्ञपति के कनिष्ठ समसामयिक अयाची-भवनाथ के पुत्र शंकर मिश्र ने भी तत्त्वचिंतामणि पर व्याख्या लिखी थी, जिसके संबंध में डॉ.किशोरनाथ झा लिखते हैं— "यद्यपि नव्यन्याय में तत्त्वचिंतामणि की मयूख व्याख्या इनकी सुनी जाती है, इसकी मातृका जम्मू प्रांत में सुरक्षित है किंतु आश्चर्य की बात है कि इसका प्रचार-प्रसार उस समय में भी मिथिला में सीमित रहा, जबकि नव्यन्याय का पठन-पाठन अपनी ऊँचाई पर विद्यमान था[3]।" जबकि स्वयं शंकर मिश्र ने अपने 'उपस्कार' में कहा भी है— 'एतद्रहस्यं चानुमानमयूखेऽन्वेषणीयम्'।

शंकर मिश्र के ही समसामयिक सुप्रसिद्ध धर्मशास्त्री वाचस्पति मिश्र (द्वितीय) प्राचीन और नव्य न्यायों के मूर्धन्य आचार्य थे। यद्यपि इन्होंने तत्त्वचिंतामणि के उपमान खंड को छोड़ शेष तीनों खंडों पर 'प्रकाश' नामक टीका की रचना की थी, पर वह व्याख्या आज तक प्रकाशित नहीं हो पाई है। सरस्वती भवन, वाराणसी में अंशतः उपलब्ध इस व्याख्या के अतिरिक्त वाचस्पति की अन्य रचनाएँ हैं न्यायसूत्रवृत्ति 'न्यायतत्त्वालोक', प्रकरणग्रंथ के रूप में प्रत्यक्षनिर्णय, अनुमाननिर्णय तथा शब्दनिर्णय। तत्त्वचिंतामणि के विभिन्न टीकाकारों ने इनके सिद्धांतों का सादर उल्लेख किया है, जिनमें इनके परवर्ती विद्वान् ही नहीं; समकालीन विद्वान् भी सम्मिलित हैं।

वाचस्पति द्वितीय, अपने समय के ऐसे पांडित्य के धनी थे, जिन्हें न केवल 'निखिल-तंत्रवित्' का विरुद दिया गया था, प्रत्युत् पंजी प्रबंध में गंगेशोपाध्याय के बाद एक मात्र आपको ही 'परमगुरु' के विशेषण से विभूषित किया गया है।

गंगेश के बाद नव्यन्याय में यदि किसी को सर्वाधिक प्रसिद्धि या प्रतिष्ठा मिली, तो वे हैं पक्षधर उपनाम से प्रसिद्ध जयदेव मिश्र, जिनका पंजीप्रबंध में एक और नाम पाया जाता है 'पाखू मिश्र'। इनका भी समय ईसा की पंद्रहवीं शताब्दी निश्चित है।

तत्त्वचिन्तामणि पर इनकी 'आलोक' व्याख्या मिथिला, बंगाल एवं भारत के अन्य भागों में न केवल प्रसिद्ध थी, बल्कि पाठ्यग्रंथ के रूप में भी समादृत रही। इस व्याख्या की इतनी प्रतिष्ठा थी कि प्रायः दो सौ वर्षों तक न केवल इसका अध्ययन-अध्यापन होता रहा, प्रत्युत् इस अवधि के विद्वानों ने इस पर व्याख्या लिखना अपना वैदुष्य भी मानते रहे। यहाँ तक कि नवद्वीप के महानैयायिक वासुदेव सार्वभौम के पुत्र जलेश्वर वाहिनीपति (16 वी. शताब्दी) ने अपने पिता की चिंतामणि व्याख्या 'चिंतामणिपरीक्षा' अथवा 'सारावली' पर व्याख्या करना गौरव नहीं माना, किंतु आलोक पर व्याख्या लिखी। इनकी व्याख्या का नाम 'उद्योत' है, जिसकी मातृकाएँ मातृकागारों में सुरक्षित हैं।

'आलोक' के अन्य टीकाकारों में मुख्य और परिगणनीय हैं स्वयं आलोककार के पुत्र माधव मिश्र, भ्रातृज वासुदेव मिश्र, शिष्य मेघ प्र.भगीरथ ठाकुर सहित महेशठाकुर (दर्पण), मधुसूदन ठाकुर (कंटकोद्धार), खांतरपुत्र माधव मिश्र (दीपिका या प्रकाश), रघुपति मिश्र (संग्रह), पद्मनाभ मिश्र (पक्षधरोद्धार या भावप्रकाश), गोपीनाथ ठाकुर (रहस्य), गोकुलनाथोपाध्याय (विद्योत किंवा विवरण), गोविंद ठाकुर (परिशिष्ट) एवं रूपनाथ ठाकुर (भावप्रकाश)। इन मैथिल टीकाकारों के अतिरिक्त बंगीय टीकाकारों में मुख्य हैं सर्वश्री हरिदास न्यायालंकार (मण्यालोक-टिप्पणी), गुणानंद विद्यावागीश (विवेक), भवानंद सिद्धांतवागीश (मंजरी), रुद्र न्यायवाचस्पति (आलोकपरीक्षा / संग्रह), गदाधरभट्टाचार्य (आलोकावलोक), मथुरानाथ तर्कवागीश (रहस्य), कृष्णदास सार्वभौम (प्रसारिणी), जयराम न्यायपंचानन (विवेक), रघुनाथ विद्यालंकार (टीका) एवं रघुदेव न्यायालंकार (निरुक्तिप्रकाश)। दाक्षिणात्य टीकाकारों में अग्रगण्य हैं सिद्धांजनाकार अन्नम्भट्ट, दर्पणनिरोधिनी (महेश ठाकुर कृत दर्पण का खंडन) के प्रणेता रघुनाथ दीक्षित, स्फूर्त्तिकार अग्निहोत्र भट्ट प्रभृति।

स्मरणीय है कि जिस प्रकार पक्षधर मिश्र का 'आलोक' न्याय जगत् को आलोकित करता रहा है, उसी प्रकार इनके शिष्यों से भी 'न्याय-लोक' दिग्दिगंत भासित होता रहा है। इनके उल्लेखनीय कृतविद्य अंतेवासियों में अग्रगण्य हैं वासुदेव सार्वभौम, रघुनाथ शिरोमणि, नरहरि उपाध्याय (गुरुपुत्र) माधव मिश्र (पुत्र), वासुदेव मिश्र (भ्रातुष्पुत्र), रुचिदत्त मिश्र (सगोत्र), मेघापरनामक भगीरथ ठाकुर (महाराज महेश ठाकुर के अग्रज), शुचिकर उपाध्याय (महेश ठाकुर के गुरु) आदि।

पक्षधर जयदेव के भ्रातुष्पुत्र वासुदेव मिश्र, अपने समय के बड़े निविष्ट दार्शनिक थे और अपने पितृव्य से विद्याध्ययन करने के बाद यज्ञपति (पक्षधर के गुरु) से भी इन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी। यह भी कहा जाता है कि विद्यापति ठाकुर इनके सहाध्यायी थे, जिनके 'प्राघुणोघुणवत्कोणे सूक्ष्मत्वान्नैव लक्ष्यते' कहने पर इन्होंने ही 'नहि स्थूलधियः

पुंसः सूक्ष्मे दृष्टिः प्रजायते' कहा था। परंतु इसी घटना को विद्यापति और पक्षधर के साथ भी जोड़ी जाती है। वासुदेव अपनी व्याख्या के अंत में लिखते हैं— ''इतिश्रीन्यायसिद्धांतसाराभिज्ञमिश्रश्रीपक्षधर-भ्रातुष्पुत्र न्यायससिद्धांतसाराभिज्ञ वासुदेवमिश्रविरचितायां चिंतामणिटीकायाम् ....।''

पक्षधर मिश्र के वरिष्ठ समसामयिक आचार्य प्रगल्भ मिश्र अपने समय के विशिष्ट दार्शनिकों में अन्यतम थे। इनके गुरु, स्वयं इनके पिता प.नरपति मिश्र थे। इन्होंने तत्त्वचिंतामणि पर जो टीका लिखी है, वह इन्हीं के नाम पर 'प्रगल्भी' से प्रसिद्ध है। नव्यन्याय में इनका मत अपना विशेष स्थान रखता है, भले ही उस मत या सिद्धांत का प्रत्याख्यान पक्षधर मिश्र, नरहरि उपाध्याय, वासुदेव मिश्र, मधुसूदन ठाकुर जैसे मैथिलों ने एवं वासुदेव सार्वभौम, रघुनाथशिरोमणि सरीखे बंग-विभूतियों ने ही क्यों न किया हो।

प्रगल्भ मिश्र के बाद, पक्षधर के ही शिष्य और सगोत्र रुचिदत्त ने तत्त्वचिंतामणि पर 'प्रकाश' व्याख्या लिखी, जो दाक्षिणात्य विद्वानों के द्वारा अधिक आदृत हुई। पहले दक्षिण के प्रांतों में तत्त्वचिंतामणि का अध्ययन अध्यापन इनके ही प्रकाश व्याख्यान से होता था, उसी का अधिक प्रचार था। नहीं तो दक्षिण में अनेक विद्वानों के द्वारा मूल चिंतामणि के बदले उसकी प्रकाश टीका (रुचिदत्ती) पर व्याख्याएँ नहीं लिखी जाती और न ही अप्पय दीक्षित न्यायमत विवेचन के अवसर पर 'शिवार्कमणिदीपिका' आदि ग्रंथों में रुचिदत्तीय प्रकाश को प्रमाण के रूप में उद्धृत करते। और तो और व्यासतीर्थ विरचित 'तर्कतांडव' और उसकी राघवेंद्रकृत व्याख्या में भी अनेकों स्थल पर प्रकाश के उद्धरण ही प्राप्त होते हैं। 'दीधिति' और 'प्रकाश' के अध्ययन से यह भी विदित होता है कि रघुनाथ की दीधिति पर रुचिदत्त के प्रकाश का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

प्रकाश में आचार्य रुचिदत्त लिखते हैं—

''अधीत्य रुचिदत्तेन जयदेवाज्जगद्गुरोः।
चिंतामणौ ग्रंथमणौ प्रकाशोऽयं प्रकाश्यते।।
सोदरनगरनिवासी रुचिदत्तः सूरिमूर्धन्यः।
चिंतामणिप्रकाशं व्यरचयदान्वीक्षिकीकोशम्।।''

ये 'सोदरपुर' ग्रामवासी शांडिल्य गोत्रीय थे। इन्होंने ही कुसुमांजलि पर 'मकरंद' टीका लिखी है।

दक्षिण के धर्मराजाध्वरींद्र एवं उनके पुत्र रामकृष्ण अध्वरि ने रुचिदत्तकृत 'प्रकाश' की टीका लिखी, जो तिरुपति से प्रकाशित हैं। बैद्यनाथ दीक्षित, तार्क्ष्यनारायण आदि की व्याख्याएँ भी प्रकाश पर प्रसिद्ध हैं।

बंगाल में नव्यन्याय के प्रचारक आचार्य वासुदेव सार्वभौम एवं उनका परिवार रहा है। सार्वभौम के पिता नरहरि विशारद एवं चाचा श्रीनाथ भट्टाचार्य चक्रवर्ती यद्यपि प्राचीन न्याय के विद्वान् थे, परंतु इन दोनों भाइयों ने मिथिला आकर नव्यन्याय का गहन अध्ययन किया था। यह भी संभव है कि इन दोनों भाइयों ने तत्त्वचिंतामणि की व्याख्या भी लिखी हो। यद्यपि वे व्याख्याएँ मातृकागारों में भी उपलब्ध नहीं हैं, पर कई संदर्भों में उनके विचार वासुदेव सार्वभौम एवं उनके शिष्य रघुनाथ शिरोमणि के द्वारा चिंतामणि टीकाओं में यथा स्थल उद्धृत हुए हैं। वासुदेव सार्वभौम तीन भाई थे, तीनों नव्यन्याय के मूर्द्धन्य मनीषी। कृष्णानंद विद्याविरंचि एवं विष्णुदास विद्यावाचस्पति दोनों सार्वभौम के अनुज थे। इनमें कृष्णानंद कृत चिंतामणि प्रत्यक्षखंड की व्याख्या का उल्लेख प्रो.दिनेश चंद्र भट्टाचार्य ने किया है[4], जबकि शब्दखंड पर विष्णुदास की व्याख्या सरस्वती भवन मातृकागार में उपलब्ध है। विष्णुदास के ही पुत्र थे चिंतामणि-विवेचना के प्रणेता काशीनाथ विद्यानिवास, जिनके दोनों पुत्र अपनी कृतियों के बल पर बड़ी ख्याति अर्जित की है। इनके नाम हैं रुद्रन्यायवाचस्पति एवं विश्वनाथ सिद्धांतपंचानन। वासुदेव सार्वभौम के पुत्र एवं पौत्र, क्रमशः जलेश्वर वाहिनीपति तथा स्वप्नेश्वर भट्टाचार्य भी अपने काल के मूर्धन्य दार्शनिक रहे हैं, जिनमें वाहिनीपति, पक्षधर कृत आलोक के व्याख्याकार हैं।

सार्वभौम परिवार से भिन्न विद्वानों में पुंडरीकाक्ष विद्यासागर, पुरुषोत्तम भट्टाचार्य, ईशान न्यायाचार्य एवं शूलपाणि न्यायाचार्य का नाम अविस्मरणीय है। ये सभी रघुनाथ शिरोमणि भट्टाचार्य के पूर्ववर्ती हैं, किंतु इनमें कौन सार्वभौम के वरिष्ठ समसामयिक हैं और कौन समसामयिक या कौन कनिष्ठ समकालिक—कहना कठिन है। परंतु इनमें प्रथम दो निश्चय ही तत्त्वचिंतामणि के टीकाकार रहे हैं। पुंडरीकाक्ष विद्यासागर कृत तत्त्वचिंतामणि प्रकाश का उल्लेख न केवल उनके 'कारक प्रकरण' में हुआ है, बल्कि नामनिर्देशपूर्वक उसके संदर्भों का आहरण आचार्य केशव मिश्र ने अपने 'गौतमीयसूत्रप्रकाश' में भी किया है। इसी प्रकार पुरुषोत्तम भट्टाचार्य का उल्लेख रघुनाथ-विद्यालंकारकृत 'दीधितिप्रतिबिंब' में मणिग्रंथ के एक व्याख्याकार के रूप में हुआ है।

वासुदेव सार्वभौमकृत तत्त्वचिंतामणिव्याख्या 'सारावलि' नवद्वीप संप्रदाय का पहला बड़ा ग्रंथ है, जिसकी मातृका वाराणसी के सरस्वती भवन मातृकागार में अवस्थित है। यह टीका 15वीं शताब्दी के मध्य में लिखी गई है। आचार्य पक्षधर मिश्र के शिष्य वासुदेव के अंतेवासियों में अन्यतम हैं अचिंत्यभेदाभेददर्शन के प्रवर्त्तक चैतन्य महाप्रभु, दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि, स्मृतिकार रघुनंदन, तांत्रिक कृष्णानंद आदि।

सार्वभौम एवं पक्षधर मिश्र के शिष्य रघुनाथ शिरोमणि भट्टाचार्य न केवल बंगीय परंपरा के सर्वश्रेष्ठ नैयायिक हैं, अपितु भारतवर्ष के शिखरस्थ दार्शनिकों में से

एक माने जाते हैं। उपमान-खंड को छोड़ इन्होंने पूरे मणिग्रंथ पर टीका लिखी है, जो संपूर्ण देश में आज भी पठन-पाठन में व्यवहृत है। 'दीधिति' नाम की यह व्याख्या इतनी सम्मानित और प्रतिष्ठित हुई कि इस पर टीका-टिप्पणी लिखना विद्वानों के लिए वैदुष्य का परिचायक माना जाता रहा। यही कारण है कि दीधिति पर कई विशिष्ट विद्वानों ने टीका लिखी हैं। यथा—रामकृष्णभट्टाचार्य (लीलावती), रघुनाथविद्यालंकार (दीधितिप्रतिबिंब), कृष्णदास सार्वभौम (प्रसारिणी), मथुरानाथ के पिता श्रीरामतर्कालंका (टीका), मथुरानाथ तर्कवागीश (रहस्य), भवानंद सिद्धांतवागीश (गूढ़ार्थप्रकाशिका), जगदीशतर्कालंका (जागदीशी), गदाधर भट्टाचार्य (गादाधरी), रुद्रन्यावाचस्पति (दीधितिप्रकाशिका), रघुदेव न्यायालंका (निरुक्तिप्रकाश), रामरुद्र तर्कवागीश (रामरुद्री), कृष्णमित्र आचार्य उपाख्य दुर्बलाचार्य (प्रकाश), जयराम न्यायपंचानन (गूढ़ार्थविद्योतन), रामचंद्र सिद्धांतवागीश (विवेचन), गौरीकांत सार्वभौम (दीधिति विवेचन), हरिदास न्यायालंकार (टीका), गुणानंद विद्यावागीश (विवेक), अन्नम्भट्ट (सुबोधिनीमनोरमा), वीरराघव यज्वन् (न्यायकौस्तुभ/प्रकाशोपन्यास), नृसिंहपंचानन (सारिका), गोविंदभट्ट (प्रमाणपरिच्छेद पर टीका), कृष्णभट्ट (मंजूषा), नीलकंठ भट्ट (टीका), गोकुलनाथोपाध्याय (दीधिति-विद्योत), गोवर्धन मिश्र (टीका), वंशीधर उपाध्याय (तत्त्वपरीक्षा) तथा चतुर्भुज उपाध्याय (विस्तर)।

16वी शताब्दी के अंतिम चरण में विद्यमान मथुरानाथ तर्कवागीश आलोक और दीधिति के व्याख्याकार तो हैं ही, वल्कि मूल मणिग्रंथ पर भी इन्होंने व्याख्या लिखी है। इनकी व्याख्याओं का नाम यद्यपि 'रहस्य' है, परंतु 'माथुरी' से उसकी अधिक प्रसिद्धि हुई है, जिसका एक नाम मथुरानाथी भी है। एक आभाणक के अनुसार इसका पठन-पाठन सर्वत्र समान था—"सर्वत्र मथुरानाथी जागदीशी क्वचित्क्वचित"। मथुरानाथ के ही सतीर्थ्य जगदीश तर्कालंका तत्त्वचिंतामणि के मयूख व्याख्याकार के रूप में प्रसिद्ध हैं, परंतु इनकी व्याख्या जागदीशी से ही अधिक लब्धप्रसिद्ध हुई।

17वीं शताब्दी के प्रारंभिक भाग में अवस्थित रुद्र न्यायवाचस्पति ने आलोक, दीधिति सहित तत्त्वचिंतामणि की परीक्षा नामक व्याख्या का प्रणयन कर पर्याप्त कीर्त्ति लाभ किया है। जबकि हरिराम तर्कवागीश के शिष्य रघुदेव न्यायालंका (17वीं शताब्दी का उत्तरार्ध) की चिंतामणि टीका तत्त्वदीपिका या गूढ़ार्थदीपिका 'रघुदेवी' से प्रसिद्ध है। इन्हीं के सतीर्थ्य थे सुप्रसिद्ध दार्शनिक गदाधर भट्टाचार्य, जिन्होंने मूल मणिग्रंथ सहित आलोक एवं दीधिति की व्याख्या के साथ-साथ अनेक वादग्रंथों की रचना की है। इनकी व्याख्या गादाधरी से प्रसिद्ध है।

गदाधरभट्टाचार्य के बाद प्राय: व्याख्या लिखने की परंपरा टूट सी गई अथवा यों कहें कि शिथिल पड़ गई और क्रोडपत्र किंवा पत्रिकाओं का युग प्रारंभ हो गया। ऐसे में 19वीं शताब्दी के कृष्णकांत विद्यावागीश ने चिंतामणि के उपमानखंड पर

'दीपनी' नामकी व्याख्या का प्रणयन किया। स्मरणीय है कि इस उपमानखंड पर बहुत कम व्याख्याएँ लिखी गई हैं।

इनके अतिरिक्त तत्त्वचिंतामणि के कुछ व्याख्याकार और हैं, जिनकी सूची यहाँ दी जा रही है—

1. पक्षधर उपाध्याय	—	विवेक (उपमानखंड को छोड़ शेष तीनों पर)
2. पद्मनाभ मिश्र	—	प्रकाश
3. गोकुलनाथोपाध्याय	—	रश्मिचक्र / चक्ररश्मि
4. कविरत्न खगेश शर्मा[5]	—	नीरक्षीरनिरूपण
5. गोपीनाथ ठाकुर	—	मणिसार
6. रघुपति मिश्र	—	व्याख्या
7. नरहरि उपाध्याय	—	दूषणोद्धार
8. वासुदेव मिश्र	—	न्यायसिद्धांतसार / दीप्ति
9. माधव मिश्र (पक्षधरसुत)	—	दीपिका
10. माधव मिश्र (खांतरसुत)	—	माधवी
11. हरिदास न्यायालंका	—	प्रकाश
12. कणाद तर्कवागीश	—	व्याख्या (अनुमान खंड पर)
13. भवानंद सिद्धांतवागीश	—	भवानंदी
14. दुलार भट्टाचार्य	—	व्याख्या
15. हरनारायण	—	व्याख्या
16. जानकीनाथ भट्टाचार्य	—	मणिमरीचि
17. वाचक गुणरत्न गणि	—	सुखबोधिनी
18. रामानुज दीक्षित	—	दर्पण
19. श्रीकंठ दीक्षित	—	व्याख्या
20. हनुमद्भट्ट	—	वाक्यार्थ दीपिका
21. चंद्रनारायण भट्ट	—	अनुगम
22. राजचूड़ामणि मखिन	—	दर्पण
23. धर्मराजाध्वरींद्र	—	तर्कचूड़ामणि

इन मूलव्याख्याकारों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं, जिन्होंने मणिटीका आलोक और दीधिति को छोड़ किसी अन्य टीका पर उपटीका लिखी है। जैसे रुचिदत्तमिश्र कृत 'प्रकाश' पर टीका लिखनेवालों में मुख्य हैं—राजचूड़ामणि मखिन् एवं उनके पुत्र धर्मराजाध्वरींद्र, रामकृष्णाध्वरींद्र (न्यायशिखामणि), श्रीपेत्ता दीक्षित (प्रकाशसार), बैद्यनाथ दीक्षित तथा तार्क्ष्यनारायण। महेश ठाकुर कृत 'दर्पण' पर रूपनाथ ठाकुर ने

भावप्रकाश नामक उपटीका लिखी। जबकि इसी 'दर्पण' टीका का खंडन 'दर्पणनिरोधिनी' नाम से वेंगटाध्वरि के पुत्र रघुनाथ दीक्षित ने किया है। रघुनाथ शिरोमणि की दीधिति टीका पर भावानंद सिद्धांतवागीश ने एक उपटीका लिखी 'गूढ़ार्थ प्रकाश' या 'प्रकाशिका'। इसके ऊपर महादेव पुणतंकर ने 'सर्वोपकारिणी' नाम की अन्वर्थनामा टीका लिखी है।

इस तरह हम देखते हैं कि आचार्य गंगेशोपाध्याय की तत्त्वचिंतामणि असंख्य टीकोपटीकाओं से संबलित है। यदि इन सभी का प्रकाशन किया जाए, जो कि विभिन्न मातृकागारों में सुरक्षित हैं, तो निश्चय ही संकलित पृष्ठों की संख्या लाखों में होगी।

18वीं शताब्दी से एक नई परंपरा जन्म लेती है, जिसने टीका, टीकोपटीका के बदले दुरूह और विरल स्थलों पर गुत्थी सुलझानेवाली विस्तृत टिप्पणी लिखना प्रारंभ किया। इसे पत्रिका या क्रोडपत्र की संज्ञा दी गई। तत्त्वचिंतामणि पर भी ऐसे असंख्य क्रोडपत्र मातृकागारों में पड़े हैं, जिनके प्रकाशन से विद्वानों को लाभ होगा। ऐसे क्रोडपत्र-निर्माताओं में मुख्य हैं—कालीशंकर भट्टाचार्य (कालीशंकरी), गोलोकनाथ भट्टाचार्य (गोलोकनाथी) बलदेवभट्टाचार्य (बलदेवी), चंद्रनारायण न्यायपंचानन (चांद्री), वामाचरण भट्टाचार्य (गंगानिर्झरणी), धर्मदत्त उपाख्य बच्चा झा (गूढ़ार्थतत्त्वालोक), कृष्णमाधव झा (सुबोधिनी), बलदेवोपाध्याय (बलदेवी द्वितीय), जयदेव तर्कालंका, श्रीकृष्ण सार्वभौम, कृष्णकांत तर्कवागीश, माधवचंद्र तर्कसिद्धांत, हरिनाथ भट्टाचार्य, विश्वनाथ झा, ऋद्धिनाथ झा, लोकनाथ झा, बबुजन झा, शशिनाथ झा, सहदेव झा, मार्कंडेय मिश्र, यदुनाथ मिश्र, राधाकांत झा, नीलांबर झा, किशोरी झा, संतगोपाल झा, महेश झा, रूपनाथ झा, षष्ठिनाथ मिश्र प्रभृति।

गंगेशोत्तरकाल में नव्यन्याय गोत्र-कलहों से ग्रस्त हो गया। अपने तर्क और प्रतिभा से शिष्य गुरु का खंडन करने में पीछे नहीं रहा। इसका प्रारंभ होता है 15 वीं शताब्दी में पक्षधरजयदेव से, जिन्होंने अपने 'आलोक' में अपने ही गुरु यज्ञपति उपाध्याय प्रणीत 'मणि-प्रभा' के कई स्थलों का खंडन किया। उपाधि-सिद्धांत की व्याख्या में पक्षधर लिखते हैं ''यथा व्यंजनत्वेऽतिप्रसक्तिर्न दोषाय तथोक्तम्। एवं सति तत्रातिप्रसंगमाशङ्क्य तन्निरासप्रयासगौरवं च **गुरूणां** किमर्थमिति न जानीमः''। यहाँ पक्षधर जिनके लिए 'गुरूणां' पद लिखते हैं, उन्हें अपने 'पक्षधरोद्धार' में पद्मनाभ मिश्र स्पष्टतः 'यज्ञपति' ही मानते हैं।

पक्षधर न केवल अपने गुरु यज्ञपति के सिद्धांतों का खंडन करते हैं, प्रत्युत् उनके प्रपितामह वटेश्वर (वटेश) उपाध्याय के मतों का भी प्रत्याख्यान करने में पीछे नहीं हैं।

इनके द्वारा अपने पिता और वृद्धप्रपितामह के मतों का खंडन देखकर यज्ञपति के पुत्र एवं स्वयं आलोककार के शिष्य नरहरि उपाध्याय ने चिंतामणि पर व्याख्या-

व्याज से गुरु के आक्षेपों का निराकरण किया। इन्होंने 'दूषणोद्धार' नामक टीका में अपने पिता व उनके प्रपितामह वटेश्वर के सिद्धांतों का मंडन करते हुए पक्षधर के सिद्धांतों का खंडन किया है। अपनी टीका के प्रारंभ में ही इन्होंने अपना उद्देश्य बता दिया है कि पिता की मान्यताओं पर किए गए आक्षेपों के निराकरणार्थ ही मैं इस कार्य में प्रवृत्त हुआ हूँ—''श्रीनरहरिणा क्रियते तातमते दूषणोद्धारः'।

दूषणोद्धार से तिलमिलाए पक्षधर-जयदेव के पुत्र जो उनके शिष्य भी थे—माधव मिश्र ने आलोक पर किए गए आक्षेपों के समाधानार्थ 'दीपिका' नाम की व्याख्या लिखी, जिसमें अपने पिता के सिद्धांतों का उन्होंने समर्थन किया और नरहरि आदि के मतों का मर्दन। नरहरि के दूषणोद्धार का जवाब केवल माधव मिश्र ने ही नहीं दिया, बल्कि पक्षधर-जयदेव के भ्रातुष्पुत्र वासुदेव मिश्र, शिष्य भगीरथ प्रसिद्ध मेघ ठाकुर तथा खांतर के पुत्र माधव मिश्र (द्वितीय), जो पक्षधरजयदेव के भ्रातुष्पौत्र थे, ने भी अलग-अलग व्याख्याओं के द्वारा दिया है। इन लोगों ने अपनी-अपनी व्याख्याओं में आलोक के मत का पोषण तथा नरहरि, यज्ञपति और वटेश्वर के सिद्धांतों का खंडन किया है। वासुदेव मिश्र के मत में—

''जयदेवगुरोर्वाचि ये केचिद्दोषदर्शिनः ।
प्रबोधाय मया तेषां दीप्तिर्भूयोऽभिदीप्यते।।''

इस खंडन-मंडन से निश्चय ही शास्त्र का उपकार और विकास हुआ, पर मिथिला की यह नव्यन्याय-विद्या अपनी जन्मभूमि में ही दो धाराओं में बँट गई। एक थी आलोककार पक्षधर की धारा तो दूसरी थी उन्हीं के गुरु प्रभाकार यज्ञपति की। अतएव 18वीं शताब्दी के महान् दार्शनिक गोकुलनाथ उपाध्याय ने अपनी चिंतामणि-टीका 'चक्ररश्मि' में लिखा है—''सोऽयं मिश्राणामुपाध्यायैः सह सगोत्रकलहोऽवशिष्यते''। इससे पहले भी पद्मनाभ ने अपने पक्षधरोद्धार में इस ओर संकेत किया था, नरहरि के संदर्भों का खंडन किया था—''तत्तु गुरुद्रोहनिबंधनमेव'' (पत्र-22), ''तत्तु पितृभक्ति-मात्रनिबंधनम्'' (पत्र-27) तथा ''तन्निर्गलशैशवस्योचितमेव'' (पत्र-73)। परंतु इस गोत्रकलह का अवसान अब भी शेष था। नरहरि के पौत्र गोविंद के द्वारा जब माधवद्वय, वासुदेव और मेघठाकुर के प्रभा-प्रत्याख्यान का अपने ढंग से खंडन किया गया, तो आलोक की ओर से पद्मनाभ मिश्र ने 'पक्षधरोद्धार' नामक टीका के माध्यम से उसका बचाव किया।

यह बात नहीं थी कि ऐसा गोत्रकलह केवल मिथिला में ही हुआ हो, बंगाल में भी रघुनाथ शिरोमणि ने अपनी दीधिति में अपने ही गुरु वासुदेव सार्वभौम के मतों की धज्जियाँ उड़ाई हैं। परंतु मिथिला की भाँति यह गोत्र-कलह बंगाल में अधिक लंबा नहीं चल पाया। प्रायः यही कारण है कि आज भारत में दीधिति, माथुरी, जागदीशी,

गादाधरी का पठन-पाठन तो चलता है, पर आलोक, प्रभा आदि का नहीं। हाँ, तत्त्वचिंतामणि अनेकानेक टीकोपटीकाओं से उपवृंहित होकर अद्यपर्यंत पठन-पाठन में अवश्य चल रही है।

संदर्भ

1. Catalogue of Skt.Manuscripts, Saraswati Bhawan, Varanasi, p.193
2. भाग - 2, पृ. 930
3. सं.वा.का.बृ.इ., भाग-9, पृ.110
4. बंगे नव्यन्याय चर्चा, पृ.62
5. आप महाराज नरेंद्र सिंह (1743-70 ई.) के समकालिक थे तथा आपकी यह टीका KSDS में संरक्षित है। दरिहरे अमरावती मूल के कोइलख ग्रामवासी उमापति उपाध्याय आप ही के पौत्र थे।

16

तत्त्वचिंतामणि में उद्धृत ग्रंथ/ग्रंथकार

तत्त्वचिंतामणि में मंडन मिश्र, प्रभाकर मिश्र तात्पर्याचार्य वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य, रत्नकोषकार (तरणि मिश्र), श्रीवल्लभाचार्य, जयंतभट्ट, शिवादित्य मिश्र, श्रीकर आचार्य तथा सोंढल उपाध्याय का उल्लेख तो नाम पुरस्सर हुआ है अथवा उनके ग्रंथों को नाम्ना उद्धृत किया गया है। जैसे विशेषणोपलक्षणवाद में 'सप्तपदार्थी' से उद्धरण का आहरण हुआ है, जो शिवादित्य मिश्र (1050-1150 ई.) की रचना है। जबकि इन्होंने अपने तत्त्वचिंतामणि में न्यायरत्नकार आचार्य मणिकंठ मिश्र के मतों का प्रत्याख्यान तो किया है, परंतु क़हीं भी उनका अथवा उनकी कृति न्यायरत्न का नाम्ना उल्लेख नहीं किया है। जबकि खंडन क्रम में श्रीहर्षकृत खंडनखंडखाद्य का उन्होंने नाम्ना उल्लेख किया है। इससे किसी ने यह अनुमान व्यक्त किया है कि गंगेश के समय में मणिकंठ या तो विद्यमान रहे होंगे अथवा वे इनके किसी नजदीक के संबंधी थे, जिस कारण उनके विचार का गंगेश ने खंडन तो किया, पर स्पष्टत: न तो उनका नाम लिया है और न ग्रंथ का, बल्कि केवल 'अन्ये तु' कहकर प्रसंग को उठा दिया है। इस 'अन्ये तु' की व्याख्या करते हुए टीकाकार वासुदेव सार्वभौम उपाधिवादांत में स्पष्ट लिखते हैं कि 'मणिकंठीय मतमाह—अन्ये त्विति'। वहीं पर गंगेश ने न्यायरत्न (पृ.94) के अंश को उद्धृत किया है। इसी प्रकार परामर्श प्रकरण में ''पृथग्वह्मित्वस्मरणं तत्र नास्ति, किंतु व्याप्त्यवच्छेदकतया इति चेन्न'' कहकर न्यायरत्न (पृ.120) गत विचार का ही निराकरण किया है। साथ ही सव्यभिचार प्रकरण में 'नापि पक्षातिरिक्तसाध्यवन्मात्रवृत्त्यन्यत्वे सति' इत्यादि खंड्यमान लक्षण मणिकंठ के न्यायरत्न (पृ.166) में पाया जाता है।

गंगेश निर्विकल्पकवाद में एक वाक्य उद्धृतकर 'इति शिवादित्यमिश्रा:' कहा है। परंतु वह वाक्य शिवादित्यप्रणीत 'सप्तपदार्थी' ग्रंथ में उपलब्ध नहीं है। अत: विचारकों

ने यह निष्कर्ष निकाला है कि वह वाक्य शिवादित्य कृत किसी अन्य ग्रंथ का ही होगा, जो आज अनुपलब्ध है। इसी प्रकार उद्धृत 'महार्णव' ग्रंथ किसका है यह स्पष्ट नहीं होता। 'निर्वाणमहार्णव' ग्रंथ के रचयिता गौतमीयसूत्रप्रकाशकार केशव मिश्र (16वीं शताब्दी) और 'मीमांसा-महार्णव' के प्रणेता वटेश्वर (14वीं शताब्दी) अर्वाचीन होने से नहीं हो सकते। संभव है 'न्यायमहार्णव' नाम का शिवादित्य का ही कोई ग्रंथ रहा हो, जिसका उद्धरण गंगेश ने पहले भी ग्रहण किया है।

संदर्भ ग्रंथसूची

संस्कृत—

1. तत्त्वचिंतामणि (भूमिका) — प. आनंद झा, दरभंगा
2. तत्त्वचिंतामणि (भूमिका) — रामानुजताताचार्य, तिरुपति
3. न्यायशास्त्रानुशीलनम् — डॉ.किशोरनाथ झा
4. गुणेश्वरचरितचंपू — कविशेखर बदरीनाथ झा

हिंदी—

1. पदार्थशास्त्र — पं. आनंद झा
2. भारतीय दर्शन का इतिहास — डॉ. नरेंद्रदेवसिंह शास्त्री
3. भारतीय दर्शन परिचय — प्रो. हरिमोहन झा
4. भारतीय दर्शन — प्रो. सुरेंद्रसिंह नेगी
5. भारतीय दर्शन — प्रो. चंद्रधर शर्मा
6. भारतीय दर्शन — डॉ. नंदकिशोर देवराज
7. भारतीय दर्शन — प्रो. एस. राधाकृष्णन्
8. भारतीय दर्शन — दत्त एवं चटर्जी
9. भारतीय दर्शन — बलदेव उपाध्याय
10. भारतीय दर्शन — डॉ. उमेश मिश्र
11. भारतीय दर्शन — डॉ. बदरीनाथ सिंह
12. दर्शन संग्रह — डॉ. दीवानचंद्र
13. न्याय दर्शन — श्रीराम शर्मा
14. धर्मशास्त्र का इतिहास—भाग.1 — म.म.डॉ.पी.वी.काणे

15. संस्कृत साहित्य कोश — राजवंश सहाय 'हीरा'
16. मिथिला की सारस्वत सुषमा — विनोदानंद झा
17. आलोक — माधवाचार्य
18. आर्यासप्तशती (भूमिका) — डॉ. उदयनाथ झा 'अशोक'
19. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास— खंड-9, लखनऊ
20. मिथिला का इतिहास — डॉ. रामप्रकाश शर्मा
21. भारतीय दर्शन और मिथिला — डॉ. उदयनाथ झा 'अशोक'

मैथिली—

1. मिथिला तत्त्व विमर्श — म.म.परमेश्वर झा
2. मिथिलाक इतिहास — उपेंद्र ठाकुर

बाङ्ला—

1. व्याप्तिपंचक (भूमिका) — राजेंद्रनाथ घोष
2. बंगे नव्यन्याय चर्चा — दिनेशचंद्र भट्टाचार्य

अंग्रेजी—

1. History of Navyanyaya in Mithila - D.C.Bhattacharya
2. History of Indian Philosophy, Vol.I - S.N.Dasgupta
3. History of Indian Philosophy, Vol.II - Umesh Mishra
4. History of Mithila - Upendra Thakur
5. Bihar through the Ages - R.R.Divakar
6. History of Tirhut - S.N.Singh
7. History of Indian Logic - Bidyabhusan
8. A Study of Mathuranathas TC-Rahasya - Dr.Shaileshwar

अभिनंदन / स्मृतिग्रंथ—

1. जयंती स्मारक ग्रंथ, पटना
2. कृष्णमाधव चिंतामणि, सरिसबपाही
3. सारस्वत सुषमा, पटना

4. पंडितराजश्रीमुरलीधरसौरभम्, वाराणसी
5. श्री अमर अर्चना, दरभंगा
6. हिमांशुश्रीः, पुरी

पत्रपत्रिका / विशेषांक—

1. विभूति वंदना (कलकत्ता)
2. मिथिलांक (दरभंगा)
3. जयंती (पुष्प-4, जयपुर)
4. स्वदेश (दरभंगा, 1948)
5. विश्वसंस्कृतम् (41/1-2, होशियारपुर)

□□□



गंगेश उपाध्याय ऐसे आचार्य हुए हैं जो नव्यन्याय की सृष्टि कर एक प्रकार से प्राचीन न्यायशास्त्र की पठन-प्रणाली को ही उठा देते हैं। तत्त्वचिंतामणिकार का मूल नाम 'गंगेश्वर' और व्यावहारिक नाम 'गंगेश' था। *तत्त्व चिंतामणि* की भूमिका में नवीन जी शाह ने इनका समय 1300-1350 ई. कहा है।

मिथिला में केवल दार्शनिकों को ही 'महामहोपाध्याय' की उपाधि दी जाती थी, वह भी ऐसे दार्शनिकों को, जिनका न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र–तीनों में अद्वितीय पांडित्य हुआ करता था। गंगेश को भी यह उपाधि इन शास्त्रों में प्रवीणता के लिए ही दी गई होगी। गंगेश पूर्व सभी ग्रंथ प्रमाणादि षोडश पदार्थों का विस्तार के साथ विवेचन करते हैं और गंगेश ने उस धारा को छोड़ केवल प्रमाण की विवेचना की। इसी कारण उस ग्रंथ को नव्यन्याय की संज्ञा दी गई।

न्यायदर्शन के क्षेत्र में गंगेश का अपना अलग महत्त्व है, उनकी अलग प्रतिष्ठा और पहचान है। अत्यंत मनोयोग से लिखा गया यह विनिबंध गंगेश उपाध्याय के जीवन और कृतित्व से पाठकों को विधिवत् परिचित कराने में सफल होगा, ऐसी आशा है।

उदयनाथ झा 'अशोक' (6 अप्रैल 1959, बिट्ठो, मधुबनी, बिहार) 1982 से बिहार, कर्णाटक, उत्तर प्रदेश आदि स्थानों की उच्च शिक्षण संस्थाओं में संस्कृत साहित्य, वेद-संस्कृति एवं भाषाविज्ञान का अध्यापन तथा शोधछात्रों को मार्गदर्शन करते आ रहे हैं। पांडुलिपिविज्ञान एवं अनुसंधान विषय पर गहन अनुचिंतन करने वाले अशोक जी के नाम व्याकरण, साहित्य, धर्मशास्त्र, वेद वेदांत, कर्मकांड विषयों तथा हिंदी, मैथिली, संस्कृत में कथा-कविता विधाओं पर अब तक तीस से अधिक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। हिंदी-मैथिली-संस्कृत-अंग्रेज़ी प्रभृति भाषाओं की विविध पत्र-पत्रिकाओं व संदर्भ ग्रंथों में लगभग दो सौ से ऊपर शोधनिबंध, लेख-कविता आदि प्रकाशित हैं। वर्तमान में आप राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान (मा.सं.वि.मंत्रालय, भारत सरकार) के सदाशिव-परिसर, पुरी में कार्यरत हैं।

ISBN : 978-81-260-4788-8





साहित्य अकादेमी

₹ 50